HINDI PADYA-PARIJAT

PART I

A SELECTION FROM PROMINENT POETS OF HINDI

SUITED FOR

High School Classes of the United Provinces



Compiled and edited

BY

NAROTTAM DAS SWAMI, M.A.

Published by the Nagri-Pracharini Sabha, Benares.

1938.

Printed by A. Bose, at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

हिंदी पद्य-पारिजात

पहला भाग

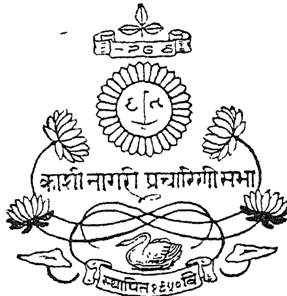
अर्थात्

हिंदी के प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमुख कवियों की
कविताओं का संग्रह

संयुक्त प्रदेश के हाई स्कूल-क्लासों के निमित्त।

संकलनकर्त्ता तथा संपादक

नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०



काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३८

निवेदन

हिंदी कविता की ऐसी संग्रह-पुस्तक प्रस्तुत करने में, जो स्कूलों की उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के योग्य हो, संग्रहकार को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहले तो उसके सामने भाषा की समस्या खड़ी होती है। ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली के तीन मोटे भेदों के भी सरल-क्लिष्ट कितने ही छोटे उपभेद हो गए हैं। संस्कृत-बहुल, उर्दू-बहुल और ठेठ हिंदी के रूपों से भाषा में इतने अंतर हो जाते हैं कि उनसे आजकल के विद्यार्थी एक नवीन भाषा सीखने का सा कष्ट अनुभव करते हैं। संग्रहकार के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह विद्यार्थियों के इस कष्ट की क्या दवा करे।

दूसरी समस्या स्थान-संकोच और चयन की है। सौ-डेढ़ सौ पृष्ठों के घेरे में संपूर्ण हिंदी कविता के सभी प्रतिनिधि कवियों की चुनी हुई रचनाएँ आ नहीं सकतीं। फिर प्राचीन हिंदी के कतिपय बड़े बड़े कवियों ने रामचरित अथवा कृष्ण-चरित के कथानक लेकर खंडकाव्यों तथा महाकाव्यों की सृष्टि की है जिन्हें इस संग्रह में बिना काट-छाँट किए कैसे रखा जाय? किंतु काट-छाँट करने से कवियों की कृतियों पर कुठाराघात होता है। अँगरेजी की भाँति हिंदी में छोटी छोटी गीति-रचनाओं का चयन करना संभव नहीं है क्योंकि यहाँ के

अनेक श्रेष्ठ कवियों ने गीति-कविता में अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया।

तीसरी समस्या यह है कि हिंदी की पढ़ाई का एक क्रम निर्धारित हो गया है जिसकी शृंखला स्कूलों से लेकर कालेजों तक बन गई है। उस क्रम तथा उस शृंखला पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। यदि स्कूलों में शिक्षार्थियों को हिंदी की काव्यधारा का सिंहावलोकन न करा दिया जाय तो कालेजों में आते ही उन पर हठात् एक भार सा लाद दिया जायगा, जिसे वहन करने में उन्हें और भी असुविधा होगी। अथवा यदि स्कूलों में उन्हें दुर्बोध-साहित्य का ही श्रीगणेश कराया गया तो स्वभावतः उन्हें अरुचि उत्पन्न हो जायगी और आगे चलकर वे हिंदी से पिंड छुड़ाने की ही चेष्टा करने लगेंगे। ऐसा क्रम-विकास होना चाहिए कि हिंदी का अध्ययन किसी प्रकार भी विषम अथवा अस्वाभाविक न प्रतीत हो।

हमारे विचार से स्कूलों की उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को व्रजभाषा, अवधी अथवा खड़ी बोली की त्रिधारा से भय-भीत न होना चाहिए। उन्हें उस त्रिवेणी में स्नान करना चाहिए। यह बात दूसरी है कि आरंभ में वे गहरे पानी में नहीं पैठ सकेंगे, परंतु इसके लिये हम आग्रह भी नहीं करते। यह तो शिक्षालयों के सुयोग्य शिक्षकों की कृतविद्यता होगी कि वे अपने विद्यार्थियों को इस जलक्रीड़ा के बहाने साहित्य की सरस्वती का रसपान करा दें।

कोई यह आशा नहीं रखता कि इस संग्रह-पुस्तक का पाठ करते हुए पाठक कविता की सूक्ष्म परिधि में पहुँचकर उसके रहस्यों से अवगत हो जायँगे। यदि शब्दों के खुरदरे रोड़े पार कर स्निग्ध-हृदय छात्र भावों की उज्ज्वलता का आभास भी पा जायँगे तो पुस्तक का उद्देश्य पूरा हो जायगा। अपनी भाषा के कवियों और अपने देश और जाति के विचारों का परिचय प्राप्त कराने में यदि यह प्रवेशिका का काम भी कर सकी तो संग्रहकार अपने इस 'उपनिषद्' को सफल समझकर गौरव का अनुभव करेगा।

विषय-सूची

टिप्पणी पृष्ठ १ से ३३ तक

कबीरदास

(१) साखी

गुरु गोविँद दोनों खड़े काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविँद दियो बताय ॥ १ ॥
माली आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कालिह हमारी बार ॥ २ ॥
बाढ़ी आवत देख करि, तरवर डोलन लाग।
हम्म कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥ ३ ॥
फागुन आवत देख करि, बन रूना मन माहिँ।
ऊँची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाहिँ ॥ ४ ॥
तेरा साँईं तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्योँ, फिर फिर ढूँढ़ै घास ॥ ५ ॥
कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥ ६ ॥
जिभ्या में अमृत बसै, जो कोइ जानै बोल।
बिस वासिक का ऊतरै, जिभ्या का इक बोल ॥ ७ ॥
रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाषँड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहे, ताहि मिलैं भगवान ॥ ८ ॥

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह ॥ ९ ॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए, पाँणी जैसा रंग ॥१०॥
पाँणी भया तो क्या भया, ताता सीरा होइ।
हरिजन ऐसा चाहिए, जैसा हरि ही होइ ॥११॥
साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥१२॥
सिंहों के लहँड़े नहीं, हंसों की नहिँ पाँति।
लालों की नहिँ बोरियाँ, साधु न चलैं जमाति ॥१३॥
लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता से प्रभु दूरि।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि ॥१४॥
आछे दिन पाछे गए, हरि में किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥१५॥
मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार-बार के मूड़ते, भेड़ न बैकुँठ जाय ॥१६॥
हंसा बगुला एक सा, मान सरोवर माहिँ।
बगा ढँढोरै माछरी, हंसा मोती खाहिँ ॥१७॥
जो हंसा मोती चुगै, काँकर क्यों पतियाय।
काँकर माथा ना नवै, मोती मिलै तो खाय ॥१८॥
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान ते, मूरख भुगतै रोय ॥१९॥

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होइ ॥२०॥
खूँदन तो धरती सहै, काट-कूट बनराइ।
संत सहैं दुरजन बचन, औरन सहा न जाइ ॥२१॥
करगस सम दुरजन बचन, रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥२२॥
कबिरा, गुरु के मिलन की, बात सुनी हम दोय।
कै साहेब को नाम लै, कै कर ऊँचा होय ॥२३॥
ऋतु बसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥२४॥
जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यहि सज्जन को काम ॥२५॥
साईं, इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥२६॥
साधू गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरि खड़े, जब माँगै तब देय ॥२७॥
गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोषधन, सब धन धूरि समान ॥२८॥
धीरे धीरे, रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ॥२९॥
साँचे कोइ न पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय ॥३०॥

कबीर, गरब न कीजिए, इस जोबन की आस ।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास ॥३१॥
चातक सुतहि पढ़ावही, आन नीर मत लेय ।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति-बूँद चित देय ॥३२॥
ऊँची जाति पपीहरा, पियै न नीचा नीर ।
कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर ॥३३॥
करु बहियाँ बल आपनी, छाँड़ बिरानी आस ।
जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास ॥३४॥
साधु कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर ।
चढ़ै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर ॥३५॥
हंसा बक एक रँग लखिय, चरैं एक ही ताल ।
क्षीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल ॥३६॥
कबीर, सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिँ ।
अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीराँ जाहिँ ॥३७॥
खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय ।
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय ॥३८॥

(२) सबद

नाम सुमिर, पछतायगा ।
पापी जियरा लोभ करत है, आज कालिह उठि जायगा ॥
लालच लागो जनम गँवाया, माया-भरम भुलायगा ।
धन-जोबन का गरब न कीजै, कागद ज्यों गलि जायगा ॥
जब जम आय केस गहि पटकै, ता दिन कछू न बसायगा ।

सुमिरन भजन दया नहिं कीन्ही, तो मुख चोटा खायगा ॥
धरमराय जब लेखा माँगै, क्या मुख लेके जायगा।
कहत कबीर, सुनो भाई साधो, साध-संग तरि जायगा ॥१॥

संतो, देखहु जग बौराना।
साँच कहौ तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना ॥
नेमी देखे, धरमी देखे, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पखानहिँ पूजैं, उनमें कछू न ग्याना ॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
साखी-सबदै गावत भूले, आतम-खबरि न जाना ॥
कह हिंदू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि-लरि मूवे, मरम न काहू जाना ॥
कहत कबीर, सुनो हो संतो, ए सब भरम भुलाना।
केतिक कहौं, कहा नहिँ मानै, आपहि आप समाना ॥२॥

ऐसे लोगन सों का कहिए।
जे नर भए भगति ते बाहर तिनते सदा डराने रहिए ॥
हरि-जस सुनहिँ न हरि-गुन गावहिँ, बातन ही असमान गिरावहिँ।
आप न देहिँ चुरू भरि पानी, तिहि निंदहिँ जिह गंगा आनी ॥
बैठत-उठत कुटिलता चालहिँ, आप गए औरनहू घालहिँ।
छाँड़ि कुचर्चा आन न जानहिँ, ब्रह्माहू को कह्यो न मानहिँ ॥
आप गए औरनहू खोवहिँ, आगि लगाइ मँदिर में सोवहिँ।
औरन हँसत आप हहिँ काने, तिनको देखि कबीर डराने ॥३॥

हृदय कपट, मुख ज्ञानी; झूठे कहा बिलोवसि पानी ।
काया माँजसि कौन गुना; जौ घट भीतर है मलनाँ ॥
लौकी अठसठि तीरथ न्हाई; करुआपन तऊ न जाई ।
माँगत कबीर बारंबारी; भव-सागर तारि, मुरारी ॥४॥

हरिगुन सुमिर, रे नर प्राणी ।
जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावे जाणा म जाणी ॥
छीलर नीर रहै धौं कैसे, को सुपनै सचु पावै ।
सूकित पान परत तरवर तैं, उलटि न तरवरि आवै ॥
जल-थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबरि न पावैं ।
राम अधार कहत है जुग जुग, दास कबीरा गावै ॥५॥

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥
सब जग देखौं कोई न धोरा, परत धूरि सिरि कहत अबीरा ।
न तहाँ सरबर न तहाँ पाँणीं, न तहाँ सतगुर साधू बाँणीं ।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ।
देस मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ।
कहै कबीर घरहीं मन माँनाँ, गूँगे का गुड़ गूँगै जाँनाँ ॥६॥

मलिक मुहम्मद जायसी

गोरा बादल की वीरता

पदमावति कै भेस लोहारू। निकसि, काटि बँदि, कीन्ह जोहारू॥
उठा कोपि, जस छूटा राजा। चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा॥
गोरा बादल खाँड़ै काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े॥
लेइ राजा, चितउर कहँ चले। छूटेउ सिंघ, मिरिग खलभले॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ, परी जग कारी॥
फिरि गोरा बादल सौं कहा। 'गहन छूटि पुनि चाहै गहा॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू। अब इहै गोइ, इहै मैदानू'॥
'तुइ अब राजहि लेइ चलु, गोरा। हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा॥
आजु खड़ग चौगान गहि, करौं सीस-रिपु गोइ।
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ'॥
तब अगमन होइ गोरा मिला। 'तुइ राजहि लेइ चलु, बादला॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताव, आउ जौ पूजी?॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौ जूझी। तुम जिनि रोएहु तौ मन बूझी'॥
कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हे। और बीर बादल सँग कीन्हे॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा। चला लिए आगे करि राजा॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पूरुष देखि चाव मन बाढ़ा॥
आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ।
परति आव जग कारी, होति आव दिन साँझ॥

फिरि आगे गोरा तब हाँका। 'खेलौं, करौं आजु रन-साका ॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग न मोरा' ॥
ओनई घटा चहूँ दिसि आई। छूटहिँ बान मेघ-झरि लाई ॥
हाथन्ह गहे खड्ग हरद्वानी। चमकहिँ सेल बीजु कै बानी ॥
गोरै साथ लीन्ह सब साथी। जस मैमंत सूँड़ बिनु हाथी ॥
रुंड मुंड अब टूटहिँ, स्यौं बखतर औ कूँड़।
तुरय होहिँ बिनु काँधे, हस्ति होहिँ बिनु सूँड़ ॥
भइ बगमेल, सेल घनघोरा। औ गज-पेल, अकेल सो गोरा ॥
सहस कुँवर, सहसौ सत बाँधा। भार-पहार जूझ कर काँधा ॥
लगे मरै गोरा के आगे। बाग न मोर घाव मुख लागे ॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई। एक मुवै, दूसर जिउ देई ॥
टूटहिँ सीस, अधर धर मारै। लोटहिँ कंधहिँ कंध निरारै ॥
कोई परहिँ रुहिर होइ राते। कोई घायल घूमहिँ माते ॥
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी ॥
घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब निबरे, गोरा रहा अकेल ॥
गोरै देख साथि सब जूझा। आपन काल नियर भा, बूझा ॥
कोपि सिंघ सामुँह रन मेला। लाखन्ह सौं नहिँ मरै अकेला ॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा ॥
जेहि सिर देइ कोपि करवारू। स्यौं घोड़े टूटै असवारू ॥
लोटहिँ सीस कबंध निनारे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे ॥
खेलि भाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा ॥

हस्ती घोड़ धाइ जो धूका । ताहि कीन्ह सो रुधिर भभूका ॥

भइ अज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ ।
रतन जात है आगे लिए पदारथ साथ" ॥

सबै कटक मिलि गोरहि छेका । गूँजत सिंघ जाइ नहिं टेका ॥
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा । पलटि सिंघ तेहि ठाँव न आवा ॥
तुरुक बोलावहिं, बोलै बाँहाँ । गोरै मीचु धरी जिउ माहाँ ॥
जिनि जानहु,गोरा सो अकेला । सिँघ के मोंछ हाथ को मेला ?
सिंघ जियत नहिँ आपु धरावा । मुए पाछ कोई घिसियावा ॥
करै सिंघ मुख सौंहहिँ दीठी । जौ लगि जियै, देइ नहिँ पीठी ॥

रतनसेन जो बाँधा, मसि गोरा के गात ।
जौ लगि रुधिर न धोवौं, तौ लगि होइ न रात ॥

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा । आइ सौंह गोरा सौं बाजा ॥
पहुँचा आइ सिंघ-असवारू । जहाँ सिंघ गोरा बरियारू ॥
मारेसि साँग, पेट महँ धँसी । काढ़ेसि हुमुकि,आँति भुइँ खसी ॥

भाँट कहा, धनि गोरा, तू भा रावन राव ।
आँति समेटि बाँधि कै, तुरय देत है पाव ॥

कहेसि, अंत अब भा भुइँ परना । अंत त खसे खेह सिर भरना ॥
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा । सरजा सारदूल पहँ आवा ॥
सरजै लीन्ह साँग पर घाऊ । परा खड़ग, जनु परा निहाऊ ॥
बज्र क साँग, बज्र कै डाँड़ा । उठी आगि, तस बाजा खाँड़ा ॥
मानहु बज्र बज्र सौं बाजा । सब ही कहा, परी अब गाजा ॥

तस मारा हठि गोरै, उठी बज्र कै आगि।
कोइ नियरे नहिँ आवै, सिंघ सदूरहि लागि॥
तब सरजा कोपा बरिबंडा। जनहु सदूर केर भुजदंडा॥
कोपि गरजि मारेसि,तस बाजा। जानहु परी टूटि सिर गाजा॥
ठाँठर टूट, फूट सिर तासू। स्यों सुमेरु जनु टूट अकासू॥
धमकि उठा सब सरग-पतारू। फिरि गइ दीठि,फिरा संसारू॥
भइ परलय,अस सबही जाना। काढ़ा खड़ग सरग नियराना॥
तस मारेसि,स्यों घोड़ै काटा। धरती फाटि, सेस-फन फाटा॥
गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचावा पान।
बादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान॥

सूरदास

पद

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हौ प्रभु दीन-दयाल ॥
चित्त निरंतर चरनन अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन स जल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि दल माल ॥
ऐसे रहत, लिखै छिनु छिनु जम अपनौ भायौ जाल।
'सूर' सुजस-रागी न डरत मन सुनि जातना कराल ॥१॥

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो ॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
यह दुबिधा पारस नहिँ जानत कंचन करत खरो ॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो ॥
एक जीव, इक ब्रह्म कहावत, 'सूर स्याम' झगरो।
अब की बेर नाथ, मोहिँ तारो नहिँ पन जात टरो ॥२॥

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै ॥
कमल-नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै ॥

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥३॥

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लाल की आउ निँदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न बेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुरलभ सो नँद-भामिनि पावै ॥४॥

कहन लगे मोहन मैया मैया।
पिता नंद सों बाबा बाबा अरु हलधर सों भैया॥
ऊँचे चढ़ि चढ़ि कहत जसोदा लै लै नाम कन्हैया।
दूरि कहूँ जिनि जाहु लला रे मारैगी काहू की गैया॥
गोपी ग्वाल करत कौतूहल घर घर लेत बलैया।
मनि-खंभन प्रतिबिंब बिलोकति नचत कुँवर निज पैया॥
नंद जसोदाजी के उर तैं इह छबि अनत न जइया।
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरस को चरनन की बलि गइया ॥५॥

मैया कबहिँ बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिँ दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिनि सी भुँइ लोटी॥

काचो दूध पिआवत पचि पचि, देत न माखन रोटी।
'सूर' स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि-हलधर की जोटी ॥६॥

बलि बलि जाउँ, मधुर सुर गावहु।
अबकी बार, मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहि नाचि देखावहु।
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु॥
जिन संका जिय करौ, लाल मेरे, काहे को भरमावहु।
बाँह उँचाइ कालि की नाईं, धौरी धेनु बुलावहु॥
नाचहु नेकु, जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु।
रतनजटित किंकिनि पग नूपुर अपने रंग बजावहु॥
कनक-खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक लौनी ताहि खवावहु।
'सूर' स्याम मेरे उर ते कहुँ टारे नेक न भावहु ॥७॥

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेणु तन मंडित, मुख दधिलेप किए॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि, मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिए॥
कठुला कंठ बज्र, केहरि नख राजत रुचिर हिए।
धन्य, 'सूर' एकौ पल या सुख, का सत कल्प जिए ॥८॥

किहि बिधि करि कान्है समुझैहौं।
मैं ही भूलि चंद दिखरायो, ताहि कहत "मोहि दै, मैं खैहौं"॥
अनहोनी कहुँ होत, कन्हैया, देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबको, खान कहत तेहि तात॥

यहै देत लवनी नित मोको, छिन छिन साँझ-सबारे।
बार बार तुम माखन माँगत, देउँ कहाँ ते प्यारे॥
देखत रहौ खिलौना चंदा, आरि न करौ, कन्हाई।
'सूर' स्याम लियो महरि जसोदा नंदहि कहत बुझाई॥९॥

खेलत स्याम ग्वालन संग।
सुबल, हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग॥
हाथ तारी देत, भाजत, सबै करि करि होड़।
बरज हलधर-स्याम, तुम जनि, चोट लगिहै गोड़॥
तब कह्यो—मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मोरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात॥
बोलि तब उठे श्री सुदामा—जाहु तारी मारि।
आगे हरि पीछे सुदामा धर्यो स्याम हँकारि॥
जानिकै मैं रह्यो ठाढ़ो, छुवत कहा जु मोहि?
'सूर' हरि खीझत सखा सोँ, मनहिँ कीनो कोहि॥१०॥

खेलत मैं को काको गोसैयाँ?
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ?
जाति-पाँति हमतेँ कछु नाहिँ, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥
रूठि करै तासोँ को खेलै, रहे पैाढ़ि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ॥११॥

सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहि आपु ललकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने?
बीचहि बोलि उठे हलधर तब—इनके माय न बाप।

हार जीत कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप ॥
आपुन हारि सखा सौं झगरत,—यह कहि दिए पठाई ।
'सूर' स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछति धाई ॥१२॥

खेलन अब मेरी जात बलैया ।
जबहिँ मोहिँ देखत लरिकन सँग तबहिँ खिझत बलभैया ॥
मोसौं कहत—पूत बसुदेव को, देवकी तेरी मैया ।
मोल लियो कछु दै बसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया ॥
अब बाबा कहि कहत नंद सौं जसुमति को कहै मैया ।
ऐसे कहि सब मोहिँ खिझावत, तब उठि चलौं खिसैया ॥
पाछे नंद सुनत हैँ ठाढ़े, हँसत हँसत उर लैया ।
'सूर' नंद बलरामहिँ धिरयो, सुनि मन हरख कन्हैया ॥१३॥

मैया, मोहिँ दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसौं कहत—मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ?
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।
'सूर' स्याम मोहिँ गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥१४॥

जसोदा, कहाँ लौं कीजै कानि ।
दिनप्रति कैसे सही परति है दूध दही की हानि ॥
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि ।
गोरस खाइ ढूँढ़ि सब बासन भली करी यह बानि ॥

मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाइ तुम्हारे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझो ग्वालिनि घर में आयो नेकु न संका मानी।
'सूर' स्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥१५॥

मधुबन, तुम कत रहत हरे?
बिरह-बिजोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हो निलज, लाज नहिँ तुमको, फिर सिर पुहप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक धिक सबन्ह करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे? ॥१६॥

ऊधो मोहिँ ब्रज बिसरत नाहीँ।
हंससुता की सुंदरि कगरी अरु कुंजन की छाहीँ॥
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीँ।
ग्वाल-बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बाहीँ॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीँ।
जबहिँ सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीँ॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीँ।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीँ॥१७॥

गोस्वामी तुलसीदास

(१) भरत-मिलन

दो०—तेहि बासर बसि प्रातहि चले सुमिरि रघुनाथ।
राम-दरस की लालसा भरत सरिस सब साथ॥
मंगल सगुन होहिँ सब काहू। फरकहिँ सुखद बिलोचन बाहू॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलहहिँ राम, मिटिहि दुख-दाहू॥
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिँ सनेह-सुरा सब छाके॥
सिथिल अंग, पग मग डगि डोलहिँ। बिहबल बचन प्रेमबस बोलहिँ॥
रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि, सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीय समेत बसहिँ दोउ बीरा॥
देखि करहिँ सब दंड प्रनामा। कहि, जय जानकिजीवन रामा॥
प्रेममगन अस राजसमाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥
दो०—भरत प्रेम तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम, जिमि ब्रह्मसुख अह-मम-मलिन-जनेषु॥
सकल सनेह सिथिल रघुबर के। गए कोस दुइ दिनकर ढरके॥
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ-पिरीते॥
उहाँ रामु रजनी अवसेखा। जागे सीय सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ-बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिनमन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोचबस सोचबिमोचन॥

लषन, सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥
अस कहि बंधुसमेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥
छंद—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे, उतर दिसि देखत भए।
नभ धूरि, खग-मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गए ॥
तुलसी, उठे अवलोकि, कारनु काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥
सो०—सुनत सुमंगल बैन, मन प्रमोद, तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन, तुलसी भरे सनेह-जल ॥
बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरत-आगमनू ॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु-बच, उत बंधु-सँकोचू ॥
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभुचित हित थिति पावत नाहीं ॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने ॥
लषन लखेउ प्रभु-हृदय-खभारू। कहत समय सम नीति बिचारू ॥
बिनु पूछे कछु कहहुँ, गोसाईं। सेवक समय, न ढीठ ढिठाई ॥
तुम्ह सर्वज्ञ-सिरोमनि, स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥
दो०—नाथ, सुहृद सुठि सरल चित सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान ॥
बिषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिँ जनाई ॥
भरत नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम, सकल जग जाना ॥
तेऊ आजु राजपदु पाई। चले धरम-मरजाद मिटाई ॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी ॥

करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ-बाजि-गजाली॥
भरतहि दोष देइ को जाए। जग बौराइ राजपद पाए॥

दो०—ससि गुरु-तिय-गामी, नहुष चढ़ेउ भूमि-सुर-जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥

सहसबाहु, सुरनाथ, त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु-रिन रंच न राखब काऊ॥
एक कीन्ह नहिँ भरत भलाई। निदरे राम जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेखी। समर सरोष राममुख पेखी॥
एतना कहत नीतिरस भूला। रन-रस-बिटप पुलकमिस फूला॥
प्रभुपद बंदि, सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बल भाखी॥
अनुचित, नाथ, न मानब मोरा। भरत हमहिँ उपचरा न थोरा।
कहँ लगि सहिय, रहिय मन मारे। नाथ साथ, धनु हाथ हमारे॥

दो०—छत्रिजाति, रघुकुल-जनम, रामअनुज जग जान।
लातहुँ मारे चढ़ति सिर नीच को धूरिसमान॥

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर, कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायक हाथा॥
आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहिँ समर-सिखावन देऊँ॥
रामनिरादर कर फल पाई। सोवहु समर-सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करिनिकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥
दो०—अतिसरोष माषे लषन, लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥
जग भयमगन गगन भइ बानी। लषन-बाहु-बल बिपुल बखानी॥
तात, प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ, को जाननिहारा॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद-बुध, ते बुध नाहीं॥
सुनि सुरबचन लषन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने॥
कही, तात, तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमद भाई॥
जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिं न साधु-सभा जेहि सेई॥
सुनहु, लषन, भल भरत-सरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
दो०—भरतहि होइ न राजमद बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ॥
तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥
मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि, भाई॥
लषन, तुम्हार सपथ, पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरतसमाना॥
सगुन षीर, अवगुन जल, ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥
भरत हंस रबि-बंस-तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा॥
गहि गुन-पय, तजि अवगुन-बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥
कहत भरत-गुन-सील-सुभाऊ। प्रेमपयोधि मगन रघुराऊ॥

दो०—सुनि रघुबरबानी बिबुध, देखि भरत पर हेत।
सकल सराहत, राम सो प्रभु को कृपानिकेत ॥
जौं न होतजग जनम भरत को। सकल-धरम-धुर-धरनि धरत को ॥
कबि-कुल-अगम भरत-गुन-गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु, रघुनाथा॥
लषन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुख लहेउ, न जाइ बखानी॥
इहाँ भरत सब सहित सहाए। मंदाकिनी पुनीत नहाए॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा॥
चले भरत जहँ सिय-रघुराई। साथ निषादनाथ, लघु भाई॥
समुझि मातु-करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
राम-लषन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिँ तजि ठाऊँ॥
दो०—मातु मते महँ मानि मोहि जो किछु कहहिँ, सो थोर।
अघ-अवगुन छमि आदरहिँ समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहिँ मलिन मन जानी। जौं मन मानहिँ सेवक मानी॥
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि, दोष सब जनहीं॥
जग जस-भाजन चातक मीना। नेम-प्रेम निज निपुन नबीना॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहिँ मातुकृत खोरी। चलत भगति-बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जलप्रवाह जल-अलि-गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥
दो०—लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषादु।
मिटिहि सोच, होइहि हरषु, पुनि परिनाम बिषादु॥

सेवक वचन सत्य सब जाने । आस्रमनिकट जाइ नियराने ॥
भरत दीख बन-सैल-समाजू । मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू ॥
ईति-भीति जनु प्रजा दुखारी । त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह भारी ॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी । होहिं, भरतगति तेहि अनुहारी ॥
रामबास बनसंपति भ्राजा । सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥
सचिव बिरागु, बिबेकु नरेसू । बिपिन सुहावन पावन देसू ॥
भट जम-नियम, सैल रजधानी । सांति सुमति सुचि सुंदर रानी ॥
सकल-अंग-संपन्न सुराऊ । राम-चरन आस्रित चित चाऊ ॥
दो०—जीति मोह-महिपाल-दल सहित बिबेक भुआलु ।
करत अकंटक राज्य, पुर सुख संपदा सुकालु ॥
बनप्रदेस मुनिबास घनेरे । जनु पुर नगर गाउँगन खेरे ॥
बिपुल बिचित्र बिहँग मृग नाना । प्रजासमाज न जाइ बखाना ॥
खगहा करि, हरि बाघ बराहा । देखि महिष बृष साजु सराहा ॥
बयरु बिहाय चरहिँ एक संगा । जहँ-तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥
झरना झरहिँ मत्त गज गाजहिँ । मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिँ ॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन । कूजत मंजु मराल मुदितमन ॥
अलिगन गावत, नाचत मोरा । जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला । सब समाज मुद-मंगल-मूला ॥
दो०—राम-सैल सोभा निरखि भरत हृदय अति प्रेमु ।
तापस तपफल पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु ॥
तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई । कहेउ भरत सन भुजा उठाई ॥
नाथ, देखियहि बिटप बिसाला । पाकरि जंबु रसाल तमाला ॥

तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसालु देखि मनु मोहा॥
नील सघन पल्लव, फल लाला। अबिचल छाँह, सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर-अरुन-मय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुखमा सी॥
ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाई॥
तुलसी-तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय, कहुँ लषन, लगाए॥
बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज सुहाई॥
दो०—जहाँ बैठि मुनि-गन-सहित नित सिय राम सुजान।
सुनहिँ कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥
सखाबचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिँ निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारसु पाएउ रंका॥
रजसिर धरि हिय नयनन्हि लावहिँ। रघुबर-मिलन-सरिस सुख पावहिँ॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम-मगन मृग-खग जड़ जीवा॥
सखहिँ सनेह-बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिँ फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर, चर अचर करत को॥
दो०—प्रेम अमिय, मंदरु बिरह, भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटे सुर-साधु-हित कृपासिंधु रघुबीर॥
सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लषन सघन बन ओटा॥
भरत दीख प्रभु आस्रम पावन। सकल-सु-मंगलु-सदनु सुहावन॥
करत प्रबेस मिटे दुख-दावा। जनु जोगी परमारथु पावा॥
देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे॥

सीस जटा कटि मुनि-पट बाँधे। तून कसे, कर सर, धनु काँधे॥
बेदी पर मुनि-साधु-समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन, जटिल, तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति-कामा॥
कर-कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥
दो०—लसत मंजु मुनि-मंडली-मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥
सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन॥
पाहि नाथ, कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥
बचन सप्रेम लषन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जिय जाने॥
बंधुसनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब-सेवा बरजोरा॥
मिलि न जाइ, नहिँ गुदरत बनई। सुकबि लषन मन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैँच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत, रघुनाथा॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट, कहुँ निषंग धनु तीरा॥
दो०—बरबस लिए उठाइ, उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहिँ अपान॥
मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि-कुल-अगम करम-मन-बानी
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबिमति अनुसरई॥
कबिहिँ अरथ-आखर-बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ, मनु बिधि-हरि-हर को॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर ताँती॥

मिलनि बिलोकि भरत-रघुबर की। सुरगन सभय धुकधुकी धरकी॥
समुझाए सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे॥
दो०—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिँ केवट भेँटेउ राम।
भूरि भाय भेँटे भरत लछिमन करत प्रनाम॥

(२) चातक-प्रेम

जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी, याचक चातकहिँ, तऊ तिहारी आस॥ १॥
चातक! तुलसी के मते, स्वातिहु पियो न पानि।
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि॥ २॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी, चातक-प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग॥ ३॥
बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक।
तुलसी, परी न चाहिए चतुर चातकहिँ चूक॥ ४॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥ ५॥
मान राखिबो, माँगिबो, पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी, तीनिउ तब फबै, जौ चातक मत लेहु॥ ६॥
तुलसी, चातक माँगनो एक, एक घन दानि।
देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि॥ ७॥
नहिँ जाचत, नहिँ संग्रही, सीस नाइ नहिँ लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहिँ को बारिद बिनु देइ॥ ८॥

साधन साँसति सब सहत, सबहिँ सुखद फल-लाहु ।
तुलसी, चातक-जलद की रीझि बूझि बुधि काहु ॥ ९ ॥
मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर ।
सुजस धवल, चातक नवल ! रह्यो भुवन भरि तोर ॥१०॥
चरग चंगुगत चातकहिँ नेम प्रेम की पीर ।
तुलसी, परबस हाड़ परि परिहैँ पुहुमी-नीर ॥११॥
बध्यो बधिक, पर्‌यो पुण्य जल, उलटि उठाई चोंच ।
तुलसी, चातक प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच ॥१२॥
तुलसी, चातक देत सिख, सुतहिँ बार ही बार ।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार ॥१३॥
तुलसी के मत, चातकहिँ केवल प्रेम-पियास ।
पियत स्वाति-जल, जान जग, जाचत बारहमास ॥१४॥
उष्णकाल, अरु देह खिन, मग-पंथी, तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुची, अन जल सीँचे रूख ॥१५॥

नरोत्तमदास

सुदामा-चरित्र

कही सुदामा एक दिन, 'कृस्न हमारे मित्र'।
करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम-बिचित्र ॥
"महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद।
ते दारिद-संताप तैं, रहैं न किमि निरद्वंद" ॥ १ ॥
"सिच्छक हौं सिगरे जग को, तिय, ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत, संपति की तिनके नहिँ इच्छा ॥
मेरे हिए हरि के पद-पंकज, बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिय, बावरि, बाँभन को धन केवल भिच्छा" ॥२॥
"दानी बड़े तिहुँ लोकन मैं, जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली बिधि, सिद्धि करौ, पिय, मेरो मतो लै ॥
दीनदयाल के द्वार न जात, सो और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्री जदुनाथ से जाके हितू, सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै" ॥३॥
"छत्रिन के पन जुद्ध, जुवा दल साजि चढ़ैं गज-बाजिन हीँ।
बैस को बानिज और कृषी, पन सूद्र को सेवन-साजन हीँ ॥
बिप्रन को प्रन है जु यही, सुख-संपति सौं कछु काज नहीँ।
कै पढ़िबो कै तपोधन है, कन माँगत बाँभनै लाज नहीँ" ॥४॥
"कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत बितीतत जौ सिसियात, तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती ॥

जो जनती न हितू हरि सौं, तो मैं काहे को द्वारिकै पेलि पठौती।
या घर तें न गयो कबहूँ, पिय, टूटो तवा अरु फूटी कठौती" ॥५॥
"प्रीति मैं चूक न है उनके, हरि मो मिलिहैं उठि कंठ लगायकै।
द्वार गए कछु दैहैं भलो हमैं, द्वारिकानाथजू हैं सब लायकै॥
या बिधि बीति गए पन द्वै, अब तो पहुँचो बिरधापन आयकै।
जीवन केतो है, जाके लिये हरि सों अब होहुँ कनावड़ो जायकै" ॥६॥
"हूजै कनावड़ो बार हजार लौं, जौ हितू दीनदयाल सो पाइए।
तीनहुँ लोक के ठाकुर हैं, तिनके दरबार न जात लजाइए॥
मेरी कही जिय मैं धरिकै, पिय, और न भूलि प्रसंग चलाइए।
और के द्वार सो काज कहा, पिय, द्वारिकानाथ के द्वारे सिधाइए" ॥७॥
"द्वारिका जाहु जू, द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै जक तेरे।
जो न कहो करिए तो बड़ो दुख, जैए कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खड़े प्रभु के छड़िया, तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी, तें देखु बिचारि कै, भेंट को चारि न चाउर मेरे" ॥८॥

यह सुनिकै तब ब्राह्मनी, गई परोसिनि पास।
पाव सेर चाउर लिए, आई सहित हुलास॥
सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया-खूँट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग वाली बूट॥ ९॥

दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं॥

देखत सुदामै धाय पुरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ, बिप्र, कहाँ कीन्हो गौन है" ?
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं" ॥१०॥
"सीस पगा न झँगा तन मैं, प्रभु, जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिँ सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल, देखि रहो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा" ॥११॥
बोल्यो द्वारपालक "सुदामा नाम पाँड़े" सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै को ?
नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो "बिपदा मैं मोहिँ पहिचानै को ?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को, कृपा के सिंधु !
ऐसी प्रीति, दीनबंधु! दीनन सोँ मानै को" ॥१२॥
ऐसे बेहाल बेवाइन सोँ पग, कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
"हाय! महादुख पायो, सखा! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए"॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिँ, नैनन के जल सो पग धोए॥१३॥
"आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैँ नहिँ दीने"।
स्याम कही मुसुकाय सुदामा सोँ, "चोरी की बानि मैँ हौ जू प्रबीने॥

पोटरी काँख मैं चाँपि रहे तुम, खोलत नाहिँ सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी, तुम तैसेई भाभी के तंदुल कीने"॥१४॥
तंदुल माँगत मोहन, बिप्र सँकोच तेँ देत नहीँ अभिलाखे।
'है नहिँ पास कछू' कहिकै तेहि गोपि घनी बिधि काँख मेँ राखे॥
सो लखि दीनदयालु तहाँ, 'तुम चोरी करी यह' यों हँसि भाखे।
खोलिकै पोट, अछोट मुठी गिरिधारन चाउर चाउ सों चाखे॥१५॥
हाथ गह्यो प्रभु को कमला, कहै, "नाथ कहा तुमनै चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी।
खाइ मुठी तिसरी अब, नाथ! कहाँ निज बास की आस बिचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम, चाहत आपहि होन भिखारी" ॥१६॥
धन्य, कहा कहिए, द्विज जू, तुम सों जग कौन उदार प्रबीनो।
पाछिली प्रीति निबाहि भली बिधि, दोष निवारिकै रोष न कीनो॥
हौं द्विज के चरनोदक हेतु अजन्म कहाय कै जन्म सु लीनो।
आवन कै निज पाँवन सों यहाँ, मोसो अपावन पावन कीनो॥१७॥

वह पुलकनि, वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति॥
घर घर कर ओड़त फिरे, तनक दही के काज।
कहा भयो जो अब भयो, हरि को राज-समाज॥
इमि सोचत सोचत झखत, आयो निज पुर तीर।
दीठि परी इकबार ही हय गयंद की भीर॥
हरि-दरसन तेँ दूरि दुख भयो, गयो निज देस।
गौतम रिषि को नाउँ लै, कीन्हो नगर-प्रबेस॥१८॥

वैसई राज-समाज, वेई गज-बाजि घने, मन संभ्रम छायो।
कैधौं परयो कहुँ मारग भूलिकै, कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो॥
भौन बिलोकिबे को मग लोचन सींचत ही सब गाँव मझायो।
पूछि भे पाँड़े कथा सब सो फिरि, झोपरि को कहुँ सोधु न पायो॥१६॥

फूटी एक थारी, बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी, औ कँथारी हुती टाट की।
बेंटे बिनु छुरी, औ कमंडलु सौ टूक वहै,
फटे हुते पावै, पाटी टूटी एक खाट की॥
पथरौटा, काठ को कठौता, कहूँ दीसै नाहिं,
पीतर को लोटो हो, कटोरो हो न बाटकी।
कामरी फटी सी हुती, डोंड़न की माला ताक,
गोमती की माटी की न सुध कहूँ माटकी॥ २० ॥

चौतरा उजार कोऊ चामीकर धाम कियो,
छानी तौ उपारि डारी, छाई चित्रसारी जू।
जो हौं होतो घर तो पै काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू॥
हौं तो हो न, काहू लोभ लाहु को दिखाय वाहि,
महल उठाय लयो हाय! सुखागारी जू।
लामी लूमवारी, दुःख-भूख को दलनहारी,
गैया बनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू॥ २१ ॥

कही बाँभनी आयकै, "यहै कंत निज गेह।
श्री जदुपति तिहुँ लोक मैं कीन्हो प्रगट सनेह" ॥२२॥

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'

(१) दोहे

अच्युत - चरन - तरंगिनी, शिव-सिर-मालति-माल ।
हरि न बनायो, सुरसरी, कीजो इंदव-भाल ॥ १ ॥
धूर धरत नित सीस पै, कहु, रहीम, केहि काज ।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ॥ २ ॥
पसरि पत्र झंपहि पितहिँ, सकुचि देत ससि सीत ।
कहु, रहीम, कुल कमल के, को बैरी, को मीत ॥ ३ ॥
बड़े पेट के भरन को, है रहीम, दुख बाढ़ि ।
याते हाथी हहरि कै, दिए दाँत द्वै काढ़ि ॥ ४ ॥
भलो भयो घर ते छुट्यो, हस्यो सीस परि खेत ।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥ ५ ॥
मन से कहाँ, रहीम, प्रभु, दृग सो कहाँ दिवान ।
देखि दृगन जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान ॥ ६ ॥
रहिमन, अपने पेट सोँ, बहुत कह्यो समुझाय ॥
जो तू अनखाए रहै, तोसोँ को अनखाय ॥ ७ ॥
रहिमन, अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥ ८ ॥
होइ न जाकी छाँह ढिँग, फल रहीम अति दूर ।
बाढ़ेउ सो बिनु काज ही, जैसे तार खजूर ॥ ९ ॥
नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत ।
ते, रहीम, पसु तेँ अधिक, रीझेहु कछू न देत ॥१०॥

ज्यों, रहीम, गति दीप की कुल कपूत-गति सोय।
बारे उजियारो करै, बढ़े अँधेरो होय ॥११॥
रहिमन, कबहुँ बड़ेन के, नाहिँ गर्ब को लेस।
भार धरै संसार को, तऊ कहावत सेस ॥१२॥
रहिमन, करि सम बल नहीँ, मानत प्रभु की धाक।
दाँत दिखावत दीन ह्वै, चलत घिसावत नाक ॥१३॥
रहिमन, रहिला कै भली, जो परसै चित लाय।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय ॥१४॥
रहिमन, यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत ॥१५॥
रहिमन, राज सराहिए, ससि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोय ॥१६॥
रहिमन, रिस सहि तजत नहिँ, बड़े प्रीति की पौरि।
मूकन मारत आवई, नीँद बिचारी दौरि ॥१७॥
रहिमन, जिह्वा बावरी, कहि गई सरग-पतार।
आपु तौ कहि भीतर भई, जूती खात कपार ॥१८॥
जो, रहीम, करिबौ हुतो ब्रज को यहै हवाल।
तो काहे कर पर धर्‌यो गोबर्धन, गोपाल ॥१९॥
बिरह-रूप घन-तम भयो, अवधि-आस उद्योत।
ज्यों, रहीम, भादो निसा, चमकि जात खद्योत ॥२०॥
दादुर मोर किसान मन लग्यो रहै घन माहिँ।
रहिमन, चातक रटनि कै सरवरि को कोउ नाहिँ ॥२१॥

हरि, रहीम, ऐसी करी, ज्यौं कमान सर पूर।
खैँचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ॥२२।

(२) बरवै

पुनि पुनि बंदहुँ गुरु के पद-जलजात।
जिहि प्रताप तै मन के तिमिर बिलात ॥ १ ॥
भजि मन, राम सियापति, रघुकुल-ईस।
दीनबंधु, दुख - टारन, कौसलधीस ॥ २ ॥
रे मन, भज निसबासर श्री बलबीर।
जो बिन जाँचे टारत जन की पीर ॥ ३ ॥
भज रे मन, नँदनंदन बिपति-बिदार।
गोपीजन-मन-रंजन, परम उदार ॥ ४ ॥
बेद पुरान बखानत अधम उधार।
केहि कारन, करुनानिधि, करत बिचार ? ॥ ५ ॥
करत घुमड़ि घन-घुरवा, मुरवा सोर।
लगि रह बिकसि अँकुरवा, नंदकिसोर ॥ ६ ॥
ब्रजबासिन के मोहन जीवन प्रान।
ऊधो, यह संदेसवा अकह कहान ॥ ७ ॥
ज्यौं चौरासी लखि मैं मानुष देह।
त्योंही दुर्लभ जग मैं सहज सनेह ॥ ८ ॥
जदपि भई जल-पूरित छिति, बसु आस।
स्वाति बूँद बिन चातक मरत पिआस ॥ ९ ॥

बिहारीलाल

दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥ २ ॥

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यो, इहि धरहरि चित लाउ।
बिषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥ ३ ॥

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यों आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाहिं ॥ ४ ॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि ॥ ५ ॥

बंधु भए का दीन के, को तार्‌यो, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद कहाइ ॥ ६ ॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न, स्याम, सहाइ।
तुमहूँ लागी, जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ॥ ७ ॥

दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहतु लियौ, ताके दुखहि न फेरि ॥ ८ ॥

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार ॥ ९ ॥

जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु ।
मन-काँचै नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥१०॥
घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचत जाइ ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥११॥
बड़े न हूजै गुननु बिनु, बिरद-बड़ाई पाइ ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ ॥१२॥
कीजै चित सोई, तरे जिहिँ पतितनु के साथ ।
मेरे गुन-औगुन-गननु गनौ न, गोपीनाथ ॥१३॥
हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार ।
जिहिँ-तिहिँ भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥१४॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ।
अब, अलि, रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार ॥१५॥
स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा; देखि, बिहंग, बिचारि ।
बाज पराएँ पानि परि तूँ, पच्छीनु न मारि ॥१६॥
सीस मुकट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।
इहिँ बानक मो मन सदा बसौ, बिहारीलाल ॥१७॥
नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥१८॥
बढ़त बढ़त संपति-सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥१९॥
कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिँ बीचु ।
नल-बल जल ऊँचैं चढ़ै, अंत नीच कौ नीचु ॥२०॥

गुनी गुनी सबकैं कहैं, निगुनी गुनी न होतु।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक तैं, अरक-समानु उदोतु ॥२१॥
दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रबि-चंदु ॥२२॥
भजन कह्यो, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार ॥२३॥
बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु ॥२४॥
यह बरिया नहिँ और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिँ, कीने पार पयोधि ॥२५॥
अति अगाधु, अति औथरौ, नदी, कूप, सरु, बाइ।
सो ताकौ सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥२६॥
कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ॥२७॥
जो सिर धरि महिमा मही, लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनिपै, सु मुकटु पहिरत पाइ ॥२८॥
को कहि सकै बड़ेनु सौं, लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारिनु वे फूल ॥२९॥
या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी, ग्रहै बीचहीं आइ ॥३०॥
दिन दस आदरु पाइकै, करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु ॥३१॥

मरतु प्यास पिँजरा-परयौ, सुआ समै कैँ फेर।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु बलि की बेर ॥३२॥
इहीँ आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कैँ मूल।
ह्वैहैँ फेरि बसंत ऋतु, इन डारिनु वे फूल ॥३३॥
वे न इहाँ नागर, बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गवँई-गाँव, गुलाब ॥३४॥
चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै, हाथिनु के ब्यापार।
नहिँ जानतु, इहिँ पुर बसैँ धोबी, ओड़, कुँभार ॥३५॥
इक भीजैँ, चहलैँ परैँ, बूड़ैँ, बहैँ हजार।
किते न औगुन जग करै, बै-नै चढ़ती बार ॥३६॥
जाकैँ एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ फूलै फरै, आकु डहडहौ होइ ॥३७॥
मीत, न नीति गलीतु है, जौ धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैँ जौ जुरै, तौ जोरियैं करोरि ॥३८॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ ॥३९॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौँरत झपत, भौँर-झौँर मधु-अंध ॥४०॥
लोपे कोपे इंद्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।
गिरिधारी राखे सबै, गो, गोपी, गोपाल ॥४१॥
चितु दै देखि चकोर त्यौं, तीजैँ भजे न भूख।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख ॥४२॥

अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु ॥४३॥
बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चित खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उतपातु ॥४४॥
तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर ॥४५॥
मनमोहन सौं मोहु करि, तूँ घनस्यामु निहारि।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥४६॥
को न छल्यौ इहि जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरभि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥४७॥
चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥४८॥
ज्यौं ह्वैहौं, त्यौं होउँगौ, हौं हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है, मो तारिबौ, गुपाल ॥४९॥

पद्माकर भट्ट

गंगा-स्तव

कूरम पै कोल, कोलहूँ पै शेष कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पदमाकर, त्यौं फनन फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थित रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर शंभु सुरनायक हैं,
शंभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।
शंभु जटाजूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की॥ १॥

हौं तो पंचभूत, तजिबे को तक्यो तोहिं, पर
तैं तौ कर्‍यो मोहि भलो भूतन को पति है।
कहै पदमाकर, सु एक तन तारिबे में
कीन्हे तन ग्यारह, कहौ, सो कौन गति है॥
मेरे भाग यही लिखी, भागीरथी गंगे, तुम्हैं
कहियो कछुक, तौ कितेक मेरी मति है।
एक भव शूल आयो मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तौ त्रिशूल देत बार ना लगति है॥ २॥

योग जप जागै छाड़ु, जाहु न परागै भैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तौ आवैगी।

कहै पदमाकर, न ऐहैं काम सरस्वती,
साँचहूँ कलिंदी कान करन न पावैगी ॥
लैहै छीन अंबर, दिगंबर कै जोरावरी,
बैल पै चढ़ाइ, फेरि शैल पै चढ़ावैगी ।
मुंडन के माल की, भुजंगन के जाल की,
सु गंगा गज खाल की खिलत पहरावैगी ॥ ३ ॥
कलि के कलंकी क्रूर कुटिल कुराही केते,
तरिगे तुरंत तबै लीन्हीं रेणु राह जब ।
कहै पदमाकर, प्रयाग बिनु पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ यम-दूतन की दाह दब ॥
कागद करम करतूति के उठाइ धरे,
पचि पचि पँच में परे हैं प्रेत-नाह अब ।
बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब ॥ ४ ॥
गंगाजू, तिहारे तीर आछी भाँति पद्माकर,
देखी एक पातकी की अदभुत गति है ।
आय कै गोबिंद वाहि धारिकै गरुड़ जू पै,
आपनेई लोक जाइबे की कीन्ही मति है ॥
जौ लौं चलिबे में भयो गाफिल गोबिंद तौ लौं,
चोरि चतुरानन चलाई हंसगति है ।
जौ लौं चतुरानन चितैबे चारों ओर तौ लौं,
वृष पै चढ़ाइ लै गयोई वृषपति है ॥ ५ ॥

आस करि आयो हुतो, मैया, पास रावरे में,
गाँठहू के पास दुख दुरि बुटि बुटि गे।
कहै पदमाकर, कुरोग से सँघाती, तेऊ
गैल में चलत घूमि घूमि घुटि घुटि गे॥
दगादार दोष दीह दरिद बिलाय गए,
फिकिर के फंद बिनु छोरे छुटि छुटि गे।
जौ लौं जाउँ जाउँ तेरे तीर पर गंगा, तौ लौं
बीचही में मेरे पापपुंज लुटि लुटि गे॥ ६॥

हरिश्चंद्र

नारद की वीणा

पिंग जटा को भार सीस पै सुंदर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी, जोहत मन मोहत॥
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै बीना कर बादन करत, तान सात सुर सों भरत।
जग-अघ छिन मैं हरि कहि हरत, जेहि सुनि नर भवजल तरत॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन-गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तो हूँ अघट॥
मनु तीरथ-मय कृष्णचरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥
जग-बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई।

ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत बिचार।
नित्य-अनित्य विवाद के, द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहिं ये सबसों बढ़ैं, लै तूँबा कर दोय॥

श्रीधर पाठक

काश्मीर-सुषमा

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति ।
पल पल पलटति भेस, छनिक छबि छिन छिन धारति ।।
विमल-अंबु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति ।
अपनी छबि पै मोहि आपही तन-मन वारति ।।
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी ।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी ।।
विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि ।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि ।।
मधुर मंजु छबि-पुंज छटा छिरकति बन-कुंजन ।
चितवति, रिझवति, हसति, डसति, मुसिक्याति, हरति मन ।।१।।
यहँ सुरूप सिंगार-रूप धरि धरि बहु भाँतिन ।
सर, सरिता, गिरि, सिखर, गगन, गह्वर, तरुवर, तृन ।।
पूरन करिबे काज कामना अपने मन की ।
किंकरता करि रह्यो प्रकृति-पंकज-चरनन की ।।
चहुँ दिसि हिम-गिरि-सिखर, हीर-मनि मौलि-अवलि मनु ।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चंद्रहार जनु ।।
फल-फूलन-छबि छटा छई जो वन-उपवन की ।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की ।।

तुहिन-सिखर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छबि ।
छई मंडलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फबि ॥
मानहु मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली ।
बाँधी बिधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली ॥
अर्द्धचंद्र सम सिखर-स्रैनि कहुँ यों छबि छाई ।
मानहुँ चंदन-धौरि, गौरि-गुरु, खौरि लगाई ॥
पुनि तिन स्रैनिन बीच वितस्ता-रेख जु राजति ।
वैष्णव "श्री" अरु शिव-त्रिशूल की आभा भ्राजति ॥२॥
हिम-स्रैनिन सों घिरयौ अद्रि-मंडल यह रूरौ ।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुखमा-सुख पूरौ ॥
बहु विधि दृश्य-अदृश्य कला-कौशल सों छायौ ।
रच्छन निधि नैसर्ग मनहुँ विधि दुर्ग बनायौ ॥
अथवा विमल बटोर विश्व की निखिल निकाई ।
गुप्त राखिबे काज सुदृढ़ संदूक बनाई ॥
कै यह जादू भरी विश्व बाजीगर थैली ।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली ॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी ।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी ॥
कै यह विकसित ब्रह्म-बाटिका की कोउ क्यारी ।
योगिराज ने यहाँ योग बल ऐंचि उतारी ॥
किधौं चढ़ायौ धाता ने भारत के मस्तक ।
माया-मालिनि-रच्यो चारु कुसुमन कौ गुच्छक ॥

काम-धेनु कै रवि-हय की खुर-छाप सलौनी।
कै वसुधा पै सुधा-धार-ब्रह्मद्रव-द्रौनी ॥ ३ ॥
परमपुरुष की पटरानी माया कौ स्यंदन।
मंडप छत्र उतारि धर्‌यौ, उतर्‌यौ कै नंदन ॥
कै जब लै शिव चले दच्छ-तनया के अंगन।
गिरि-शृंगन गिरि खिल्यौ प्रिया के कर कौ कंगन ॥
विष्णु-नाभि तें उग्यौ सुन्यौ जो कमल सहसदल।
कै यह सोई सुभग स्वयंभू कौ सुजन्म-थल ॥ ४ ॥
सुरपुर अरु सुरकानन की सुठि सुंदरताई।
त्रिभुवन-मोहन-करनि, कविन बहु बरनि सुहाई ॥
सो सब कानन सुनी, किंतु नैनन नहिँ देखी।
जहँ-तहँ पोथिन पढ़ी, पै सु परतच्छ न पेखी ॥
सो, कवियन जो कही, कलित सुरलोक-निकाई।
याही कौं अवलोकि एक कल्पना बनाई ॥ ५ ॥
सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुंदर?
को सोभा कौ भौन, रूप कौ कौन समुंदर?
काकौं उपमा उचित देन दोउन मैं काकी?
याकौं सुरपुर की, अथवा सुरपुर कौं याकी?
याकौं उपमा याही की मोहि देत सुहावै।
या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै ॥
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुंदर।
यहिँ अमरन कौ ओक, यहीँ कहुँ बसत पुरंदर ॥ ६ ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(१) वर्षा-वर्णन

सरस सुंदर सावन मास था,
घन-घटा नभ थी घिर-घूमती।
विलसती बहुधा जिसमें रही,
छबिवती उड़ती बक-मालिका ॥ १ ॥
घहरता गिरि-सानु समीप था,
बरसता छिति छू नव-वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले,
वियत में रचता बहु चित्र था ॥ २ ॥
नव-प्रभा परमोज्ज्वल-लीक सी,
गति-मती कुटिला फणिनी-समा।
दमकती दुरती घन-अंक थी,
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥ ३ ॥
विविध रूप धरे नभ में कभी,
विहरता वर-वारिद-व्यूह था।
बरसता बहु पावन वारि था,
वह कभी सरसा करके रसा ॥ ४ ॥
सलिल-पूरित थी सरसी हुई,
उमड़ते पड़ते सर-वृंद थे।

कर सु-प्लावित कूल समस्त को,
सरित थी स-प्रमोद प्रवाहिता ॥ ५ ॥
अवनि के तल थी अति शोभिता,
नवल कोमल श्याम तृणावली ।
नयन-रंजन थी करती महा,
अनुपमा तरु-राजि-हरीतिमा ॥ ६ ॥
हिल, लगे मृदु-मंद समीर के
सलिल-बिंदु गिरा सुठि अंक से ।
महि न थे किसका मन मोहते,
जल-धुले दल पादप-पुंज के ॥ ७ ॥
विपुल मोर लिए बहु मोरनी,
विहरते सुख से स-विनोद थे ।
जटित-नीलम-पुच्छ-प्रभाव से,
मणि-मयी करके वन-मेदिनी ॥ ८ ॥
बन प्रमत्त-समान पपीहरा
कथन था करता मुख 'पी कहाँ' ।
लखि वसंत-विमोहिनि-मंजुता,
पिक सदा उठता वन कूक था ॥ ९ ॥
स-रव पावस-भूप-प्रताप जो
सलिल में कहते बहु भेक थे ।
विपुल झींगुर, तो, थल में उसे,
धुन लगा करते नित गान थे ॥ १० ॥

सुखद-पावस के प्रति सर्व की,
प्रगट सी करती अति प्रीति थीं ।
वसुमती - अनुराग - स्वरूपिणी,
विलसती बहु वीर-वधूटियाँ ॥ ११ ॥

परम म्लान हुई बहु बेलि को,
निरख के फलिता अति-पुष्पिता ।
सकल के उर अंकित थी हुई,
सुखद शासन की उपकारिता ॥ १२ ॥

विविध-आकृति औ फल-फूल की,
उपजतीं अवलोक सु-बूटियाँ ।
प्रगट थी महि-मंडल हो रही,
प्रियकरी प्रतिपत्ति पयोद की ॥ १३ ॥

रस-मयी लख वस्तु असंख्य को,
सरसता लख भूतल-व्यापिनी ।
समझ था पड़ता बरसात में,
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥ १४ ॥

मृतक-प्राय हुई तृण-राजि भी,
सलिल से फिर जीवित हो गई ।
फिर सु-जीवन जीवन को मिला,
बुध न जीवन क्यों उसको कहें ॥ १५ ॥

व्रज-धरा यक बार इन्हीं दिनों
पतित थी दुख-वारिधि में हुई ।

पर उसे अवलंबन था मिला,
　　व्रज-विभूषण के भुज-पोत का ॥ १६ ॥
दिवस एक प्रभंजन का हुआ
　　अति प्रकोप, घटा नभ छा गई।
बहु-भयाविनि, गाढ़-मसी-समा,
　　सकल-लोक-प्रकंपितकारिणी ॥ १७ ॥
अशनि-पात-समान दिगंत में
　　रव विभीषण हो उठने लगा।
कर विदारण वायु पुनः पुनः
　　दमकने नभ दामिनि भी लगी ॥ १८ ॥
मथित, चालित, ताड़ित हो महा
　　अति प्रचंड प्रभंजन-पुंज से।
जलद थे दल के दल आ रहे,
　　घुमड़ते, घिरते, ब्रज घेरते ॥ १९ ॥
तरल-तोयधि-तुंग-तरंग लौं,
　　निविड़ नीरद थे नभ घूमते।
प्रबल हो जिसकी बढ़ती रही,
　　असितता, घनता, रवकारिता ॥ २० ॥

(२) भेद की बातें

है उसी एक की झलक सब में,
हम किसे कान कर खड़ा देखें।

तो गड़ेगा न आँख में कोई,
हम अगर दीठ को गड़ा देखें ॥ १ ॥
एक ही सुर सब सुरों में है रमा,
सोचिए, कहिए कहाँ वह दो रहा।
हर घड़ी हर अवसरों पर हर जगह,
हरिगुनों का गान ही है हो रहा ॥ २ ॥
पेड़ का हर एक पत्ता हर घड़ी,
है नहीं न्यारा हरापन पा रहा।
गुन सको गुन लो, सुनो जो सुन सको,
है किसी गुनमान का गुन गा रहा ॥३॥
हरिगुनों को ए सुबह हैं गा रही,
सुन हुईं वे मस्त कर अठखेलियाँ।
चहचहाती हैं न चिड़ियाँ चाव से,
लहलहाती हैं न उलही बेलियाँ ॥ ४ ॥
छा गया हर एक पत्ते पर समाँ,
पेड़ सबने सिर दिया अपना नवा।
खिल उठे सब फूल, चिड़ियाँ गा उठीं,
बह गई कहती हुई हर हर हवा ॥५॥
है नदी दिन-रात कल कल बह रही,
बाँध धुन झरने सभी हैं झर रहे।
हर कलेजे में अजब लहरें उठा,
हरिगुनों का गान ए हैं कर रहे ॥ ६ ॥

चाहिए था कि गुन-भरे के गुन,
भाव में ठीक ठीक भर जाते।
पा सके जो न एक गुन भी तो
क्या रहे बार बार गुन गाते ॥ ७ ॥

क्या हुआ मुँह से सदा हरि हरि कहे,
दूसरों का दुख न जब हरते रहे।
जब दयावाले बने न दया दिखा,
तब दया का गान क्या करते रहे ॥ ८ ॥

तह-बतह जो कीच है जमती गई,
कीच से कोई उसे कैसे छिले।
तब भला किस भाँति अंधापन टले,
जब किसी अंधे को अंधा ही मिले ॥ ९ ॥

भूल से बचकर भुलावों में फँसी,
काम - धंधा छोड़ सतधंधी रही।
सूझ सकता है मगर सूझा नहीं,
बावली दुनिया न कब अंधी रही ॥१०॥

साँस पाते जब बुराई से नहीं,
लाभ क्या तब साँस की साँसत किए।
जब दबाए से नहीं मन ही दबा,
नाक को तब हैं दबाते किस लिये ॥११॥

उन लयों लहरों सुरों के साथ भर,
रस अछूते प्रेम का जिनसे बहे।

कंठ की घंटी बजी जिनकी न, वे
कंठ में क्या बाँधते ठाकुर रहे । १२॥
रंग में जो प्रेम के डूबे नहीं,
जो न पर-हित की तरंगों में बहे ।
किस लिये हरिनाम, तो सह साँसतें,
कंठ भर जल में खड़े जपते रहे ॥१३॥
जान जब तक सका नहीं तब तक,
था बना जीव बैल तेली का ।
जब सका जान, तब जगत सारा
हो गया आँवला हथेली का ॥१४॥
डूबने हम आप जब दुख में लगे,
सूझ पाया तब गया क्यों दुख दिया ।
जान गहराई गुनाहों की सकें,
काम जब गहरी निगाहों से लिया ॥१५॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

भगीरथ की वर-प्राप्ति

जाइ गोकरन-धाम नृपति अति आनँद पायौ।
मनु गज तोरि अलान उमगि कदली-बन आयौ॥
सिद्धि-छेत्र सुभ देखि नेत्र तहँ ललकि लुभाए।
मनहु सोधि मनि-खानि-सोध सोधी हुलसाए॥ १॥
तरु बल्ली बहु भाँति फलित प्रफुलित तहँ भावैं।
मनहु कामना सफल होन के सगुन दिखावैं॥
सर सरिता सब स्वच्छ जथा-इच्छित जल पावत।
मनु मन-आसय पूर होन के जोग जतावत॥ २॥
गुंजत मंजु मलिंद-पुंज मकरंद-अघाए।
मनहु मुदित मन करत तोष के घोष सुहाए॥
पसु-पच्छिनि के बृंद करत आनंद-नाद कल।
धन्यबाद मनु देत पाइ बांछित जीवन-फल॥ ३॥
बिद्याधर गंधर्ब सिद्ध तप-बृद्ध सयाने।
बिचरत तहाँ बिनोद-मोद-मंडित मनसाने॥
मुनि-आस्रम अभिराम ठाम-ठामनि छबि छावैं।
साधक-गन पैं सिद्धि तहाँ खोजति चलि आवैं॥ ४॥
सो सुभ धाम ललाम देखि भूपति मन मान्यौ।
तहँ तप-कष्ट उठाइ इष्ट-साधन ठिक ठान्यौ॥

पूजि छेत्रपति पुलकि माँगि आयसु मुनि-गन सौं।
लगे भूपमनि करन कठिन जप-तप तन-मन सौं ॥ ५ ॥
कंद-मूल तिन करि अहार कछु बार बिताए।
कछुक दिवस तृन-पात परे पुहुमी चुनि खाए ॥
कछु दिन बारि, बयारि, पान करि कछु दिन टेरे।
इहिँ बिधि कष्ट उठाइ किए व्रत घोर घनेरे ॥ ६ ॥
रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति नास्ति कैँ बीच गनित-कल्पित रेखा सौ ॥
सुर-मुनि-अग्र समग्र देखि तप उग्र सिहाए।
नृपहिँ निवारन-हेत सबनि बहु हेत बुझाए ॥ ७ ॥
रहे ध्यान धरि जपत भूप बिधि-मंत्र निरंतर।
भरि जिय यहै उमंग गंग आवैँ अवनी पर ॥
तरैँ सगर के सुवन भुवन मुद मंगल छावै।
डरैँ देखि जम-दूत पुरी पुरहूत बसावै ॥ ८ ॥
बीते बरस अनेक टेक जब नैँकु न टारी।
सह्यौ सीस धरि धीर बीर हिम आतप बारी ॥
तब ताकैँ तप-तेज तपन लाग्यौ महि-मंडल।
उफनि उठ्यौ ब्रह्मंड भभरि भय भर्‌यौ अखंडल ॥ ९ ॥
सुर नर मुनि गंधर्ब जच्छ किन्नर कहलाने।
नभ-जल-थल-चर बिकल सकल थल थल हहलाने ॥
जानि पर्‌यौ त्रिपुरारि तमकि तीजौ दृग खोल्यौ।
त्रासनि परी पुकार चारमुख-आसन डोल्यौ ॥ १० ॥

लै सँग देव-समाज काज बिसराइ जगत कौ।
उठि आतुर अकुलाइ ल्याइ मन भाय भगत कौ॥
चले प्रसंसत हँसत हंस हाँकत चतुरानन।
पहुँचे आनि तुरंत तपत भूपति जिहिँ कानन॥११॥
कृपा-छलक-छबि नैन बैन गदगद मुख मिलकित।
बर बरदान-उमंग-तरंगनि सौं तन पुलकित॥
मृदुल मनोहर उर-उछाह-कारी स्रमहारी।
सुघर सब्द सौं कलित ललित बिधि गिरा उचारी॥१२॥
अहो भूप - कुल-कमल-अमल-अति-प्रबल-प्रभाकर।
कियौ कठिन तप जाहि निरखि रबि लगत सुधाकर॥
जाकैं प्रखर प्रभाव पदारथ परम सुलभ सब।
तजि सँकोच जो चहहु लहहु सानँद हमसौं अब॥१३॥
सुनत बैन सुख-दैन भगीरथ नैन उघारे।
बिबुधनि-बलित प्रसन्न-बदन बिधि निकट निहारे॥
तप-तापैं तन परी सुखद आसा-जल-धारा।
सुधा स्रवन भरि चली उबरि ढरि नैननि द्वारा॥१४॥
सरक्यौ सब दुख-दंद चंद-आनन मुद छरक्यौ।
फरक्यौ सुभग सरीर चीर बलकल कौ दरक्यौ॥
जोरि पानि परि भूमि भूमि-पति सिर पद परसे।
सब देवनि सादर प्रनाम करि अति सुख सरसे॥१५॥
पाद अरघ आसन सुमूल फल फूल सुहाए।
अरपि जथा-बिधि बिनय-बचन कर जोरि सुनाए॥

जय चतुरानन चतुर चतुर-जुग-जगत-बिधायक।
जय सुर-नर-मुनि-बंद्य सदा सुंदर-बर-दायक ॥१६॥
तव दरसन सौं आज काज पूजे सब मन के।
लखि यह देव-समाज साज छाए सुख-गन के॥
धर्‌यौ माथ पर हाथ नाथ तौ देहु यहै बर।
तारन-बिरद-उतंग गंग आवैं पुहुमी पर ॥१७॥
असन बसन बर बाम धाम भव-बिभव न चाहैं।
सुरपुर-सुख बिग्यान मुक्तिहूँ पैं न उमाहैं॥
अति उदार करतार जदपि तुम सरबस-दानी।
हम लघु जाचक चहत एक चिल्लू भर पानी ॥१८॥
ताही सौं तप-ताप दूरि करि अंग जुड़ैहैं।
ताही सौं सब साप-दाप पितरनि के जैहैं॥
ताही सौं जग सकल महा मुद मंगल छैहैं।
ताही सौं सुख पाइ लाख अभिलाष परैहैं ॥१९॥
यह सुनि मृदु मुसकाइ चतुर चतुरानन भाख्यौ।
धन्य धन्य महि-पाल मही-हित पर चित राख्यौ॥
तुम्हैं न कछुहुँ अदेय, एक यह असमंजस पर।
गंग-धार कौ बेग धरै किमि धरनि धरा-धर ॥२०॥
धमकि धूम सौं धाइ धँसै जबही ब्रह्मद्रव।
उथलपथल तल होइ रसातल मचहि उपद्रव॥
जगत जलाहल होइ कुलाहल त्रिभुवन ब्यापै।
है सनद्ध कटिबद्ध कौन थिरता फिरि थापै ॥२१॥

तातैं कहत उपाय एक अतिसय हित-कारी ।
आराधौ तुम आसुतोष संकर त्रिपुरारी ॥
सो सब भाँति समर्थ अर्थ-दायक चित-चाहे ।
करत न नैंकु बिचार चार फल देत उमाहे ॥२२॥
बिकल सकल जग जोहि छोहि करुना जिन धारी ।
निधरक धरि गर गरल सुरासुर-बिपति बिदारी ॥
गर्ब खर्ब करि सर्ब कठिन कालहु दुर्दर कौ ।
चिर जीवन थिर कियौ मारकंडे मुनिबर कौ ॥२३॥
सोइ इक सकत सँभारि गंग कौ बेग बिपुल बर ।
करि जु कृपा बर देहिँ लेहिँ यह काज सीस पर ॥
सकल मनोरथ होहिँ सिद्ध तब तुरत तिहारे ।
यौँ कहि बिधि सब सुरनि सहित निज लोक सिधारे ॥२४॥
यह सुनि महा धीर भूपति-मन नैंकु डग्यौ ना ।
संसय संका सोक सोच मैँ पलहुँ पग्यौ ना ॥
बरु बाढ़ी चित चोप ओप आनन पर आई ।
अमित उमंग-तरंग अंग अंगनि मैँ छाई ॥२५॥
अब तौ हम सुभ ढंग गंग-आवन कौ पायौ ।
पारावार-अपार-परे कौँ पार लखायौ ॥
यह बिचार निर्धारि हियैँ आनँद सरसायौ ।
धन्यबाद ह्वै नीर निकरि नैननि तैँ आयौ ॥२६॥
पुनि लागे तप तपन जपन संकर दुख-भंजन ।
बर-दायक करुना-निधान निज-जन-मन-रंजन ॥

इक अँगुठा ह्वै ठाढ़ गाढ़ ब्रत संजम लीने।
सहे बिबिध दुख गहे मौन इक दिसि मन दीने ॥२७॥
खान पान बस किए नीँद नारी बिसराए।
और ध्यान सब धाइ देवधुनि की धुनि लाए॥
गयो बीति इहिँ रीति एक संबतसर सारौ।
उठ्यौ गगन लौँ गाजि भूप कौ सुजस-नगारौ ॥२८॥
तब तजि अचल समाधि आधि-हर संकर जागे।
निज-जन-दुख मन आनि कसकि करुना सौँ पागे॥
आतुर चले उमंग-भरे भंगहु नहिँ छानी।
कृपा-कानि बरदान-देन-हित हिय हुलसानी ॥२९॥
डगमग पग मग धरत तजे बरदहु हरबर सौँ।
आए तिहिँ बन सघन बिभूषित जो नरबर सौँ॥
देखि भूप कौ कृसित रूप नैननि जल छायौ।
सृंगी-नाद बिषाद-हरन सुख-करन बजायौ ॥३०॥
दृग उघारि त्रिपुरारि निरखि नृप निपट चकाए।
रहे ललकि छबि-छकित पलक बिन पलक गिराए॥
सुंदर अमल अनूप भव्य भव-रूप सुहायौ।
मनु तप-तेज-स्वरूप भूप आगैँ चलि आयौ ॥३१॥
हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि-छटा भाल पर।
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर॥
फनि-पति - हार - बिहार-भूमि बच्छस्थल राजै।
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छबि छाजै ॥३२॥

दृढ़ कटि-धाम ललाम चाम सुभ दुरद-दवन कौ।
गूढ़ जानु जो भार भरत सहजहिँ त्रिभुवन कौ॥
अरुन-कोकनद-चरन सरन जो असरन जन के।
जिनकौ गुन गुंजार करत मन-अलि मुनि-गन के॥३३॥
गौर सरीर बिभूति भूति त्रिभुवन की सोहै।
आनन परम-उदार-प्रकृति-छबि-छलक बिमोहै॥
उमगि कृपा कौ बारि पगनि डगमग उपजावत।
तकि तकि तांडव नचत दमकि दम डमरु बजावत॥३४॥
मानि कामना सिद्ध जानि तूठे दुख-हारी।
भयौ भूप-मन मगन बढ़ै आनँद-नद भारी॥
किं-कर्तव्य-बिमूढ़ गूढ़ भायनि भरि भाए।
रहे थकित से दंग छनक बिन अंग डुलाए॥३५॥
पुनि कछु धीर बटोरि जोरि कर परे धरनि पर।
बरुनिनि झारत पाय पखारत नैन-नीर-झर॥
कंपित गात लखाति प्रेम-पुलकावलि बिकसति।
उमगि कंठ लौं आइ बात हिचकी ह्वै निकसति॥३६॥
यह करुनामय दृश्य संभु प्रनतारति-हारी।
सके न देखि बिसेषि भक्त-दुख भए दुखारी॥
नृपहि और कछु करन कहन कौ ठौर न दीन्यौ।
अंतरजामी जानि भाव अंतर कौ लीन्यौ॥३७॥
भुज उठाइ हरषाइ बाँकुरौ बिरद सँभार्‌यौ।
दियौ बिसद बर-राज भूप कौ काज सँवार्‌यौ॥

हम लैहैं सिर गंग दंग जग होहि जाहि ज्वै।
यौं कहि अंतर्धान भए नृप रहे चकित ह्वै ॥३८॥
उठि महि सौं महिपाल लगे चारौं दिसि हेरन।
कृपा-सिंधु करुना-निधान कहि इत-उत टेरन॥
सिव कौ सुखद स्वरूप चखनि भरि चहन न पाए।
मन की मनहीं रही हाय कछु कहन न पाए ॥३९॥
इहिं गिलानि की आनि घटा आसा घुँधराई।
भयौ मंद मुख-चंद दंद-उम्मस उमगाई॥
पै गुनि हर के बैन नैन आनँद-रस बरसे।
जप-तप कौ करि बिहित बिसर्जन अति सुख सरसे ॥४०॥
इहिं भाँति भगीरथ भूप बर साधि जोग जप तप प्रखर।
लीन्यौ सिहात जिहिँ लखि अमर मान-सहित चित-चहत बर४१

रामचंद्र शुक्ल

भगवान् बुद्ध और हंस

करत श्री भगवान गुरुजन को सदा सम्मान;
वचन कहत विनीत यद्यपि परम ज्ञाननिधान।
राजतेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार;
हृदय परम सुशील कोमल, यदपि शूर अपार।
कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिँ
साहसी असवार तिन सम कोउ निकसत नाहिँ।
राजभवन समीप कबहूँ होड़ जो लगि जाय
रथ चलावन माहिँ कोऊ तिन्हैँ सकत न पाय।
करत रहत अहेर सहसा ठिठकि जात कुमार;
जान देत कुरंग को भजि, लगत करन विचार।
कबहुं जब घुरदौर में हय हाँफि छाँड़त साँस,
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास,
लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि,
जीति आधी कुँवर बाजी खोय देतो जानि।
बढ़त ज्यों ज्यों गयो प्रभु को वयस् लहि दिन-राति
बढ़ति दिन दिन गई तिनकी दया याही भाँति।
यथा कोमल पात द्वै तें होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौं बहु जो गए कछु काल।

किंतु जानत नाहिँ अब लौं रह्यो राजकुमार
क्लेश, पीड़ा, शोक काको कहत है संसार।
इन्हैँ ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिँ
राजकुल मेँ कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिँ।
एक दिवस वसंत ऋतु मेँ भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सोँ ह्वै हंस उड़ि कै जात।
जात उत्तर ओर निज निज नीड़ दिशि ते धाय,
शुभ्र हिमगिरि-अंक मेँ जो लसत ऊपर जाय।
प्रेम के सुर भरत, बाँधे धवल सुंदर पाँति,
उड़े जात विहंग कलरव करत नाना भाँति।
देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि।
जाय बैठ्यो पंख मेँ सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार।
गिरयो खग भहराय, तन मेँ बिध्यो विशिख कराल;
रक्तरंजित ह्वै गयो सब श्वेत पंख विशाल।
देखि यह सिद्धार्थ लीनो धाय ताहि उठाय,
गोद मेँ लै जाय बैठ्यो पद्म-आसन लाय।
फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को योँ दियो धीर धराय।
नवल कोमल कदलिदल सम करन सोँ सहराय,
प्रेम सोँ पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय।

खैंचि लीनो निठुर शर करि यत्न बारंबार
घाव पै धरि जड़ी-बूटी कियो बहु उपचार।
देखिबे हित पीर कैसी होति लागे तीर
लियो कुँवर धँसाय सो शर आप खोलि शरीर।
चौंकि सो चट परयो पीरा परी दारुण जानि;
छाय नयनन नीर खग पै लग्यो फेरन पानि।
पास ताके एक सेवक तुरत बोल्यो आय
"अबै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय।
गिरयो पाटल बीच बिधि कै ठौर पै सो याहि।
मिलै मोको, प्रभो! मेरो कुँवर माँगत ताहि।"
बात ताकी सुनत बोल्यो तुरत राजकुमार
"जाय कै कहि देहु दैहौं नाहिँ काहु प्रकार।
मरत जो खग अवसि पावत ताहि मारनहार,
जियत है जब तासु तापै नाहिँ कछु अधिकार।
दियो मेरे बंधु ने बस तासु गति को मारि
रही जो इन श्वेत पंखन की उठावनहारि।"
देवदत्त कुमार बोल्यो "जियै वा मरि जाय,
होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय।
नाहिँ काहू को रह्यो जौ लौँ रह्यो नभ माहिँ;
गिरि परयो तब भयो मेरो, देत हौ क्यों नाहिँ ?"
लियो तब खग कंठ को प्रभु निज कपोलन लाय
पुनि परम गंभीर स्वर सों कह्यो ताहि बुझाय

"उचित है यह नाहिँ जो कछु कहत हौ तुम बात,
गयो ह्वै यह विहग मेरो, नाहिँ देहौं, तात!
जीव बहु अपनायहौं या भाँति या संसार
दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार।
दयाधर्म सिखायहौं मैं मनुजगन को टेरि,
मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौं हेरि।
रोकिहौं भवताप की यह बढ़ति धार कराल
परे जामैं मनुज तें लै सकल जीव बिहाल।
किंतु चाहैं कुँवर तो चलि विज्ञजन के तीर
कहैं अपनी बात, चाहैं न्याय धरि जिय धीर।"
भयो अंत विचार नृप के सभामंडप माहिँ।
कोउ ऐसो कहत, कोऊ कहत ऐसो नाहिँ।
कह्यो याही बीच उठि अज्ञात पंडित एक
"प्राण है यदि वस्तु कोऊ करौ नैकु विवेक;
जीव पै है जीवरच्छक को सकल अधिकार,
स्वत्व वाको नाहिँ चाह्यो बधन जो करि वार।
बधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार;
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार।"
लग्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान।
भई मुनि की खोज, पै सो भए अंतर्द्धान।
व्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिँ;
देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिँ।

दया के शुभ कार्य्य को आरंभ याहि प्रकार
कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार।
छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत।

जयशंकर 'प्रसाद'

(१) भारत-महिमा

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥१॥
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत॥
बचाकर बीज रूप से सृष्टि नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत॥२॥
सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥
सिंधु सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह॥३॥
धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शांति-संदेश, सुखी होते देकर आनंद॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट्, दया दिखलाते घर घर घूम॥४॥
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आए थे नहीं ॥५॥
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ॥
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न ॥६॥
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव ॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान ॥
जिएँ तो सदा इसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥७॥

(२) चित्रकूट

उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे।
सुधा - कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे ॥
धीरे धीरे उठे नई आशा से मन में।
क्रीड़ा करने लगे स्वच्छ स्वच्छंद गगन में ॥
चित्रकूट भी चित्र लिखा सा देख रहा था।
मंदाकिनी - तरंग, उसी से खेल रहा था ॥
स्फटिक - शिला - आसीन राम-वैदेही ऐसे।
निर्मल सर में नीलकमल-नलिनी हों जैसे ॥

निज प्रियतम के संग सुखी थी कानन में भी।
प्रेम भरा था वैदेही के आनन में भी॥
मृगशावक के साथ मृगी भी देख रही थी।
सरल विलोकन जनक-सुता से सीख रही थी॥
निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है, श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥
चंद्रातप था व्योम, तारका-रत्न जड़े थे।
स्वच्छ दीप था सोम, प्रजा तरु-पुंज खड़े थे॥
शांत नदी का स्रोत बिछा था अति सुखकारी।
कमल-कली का नृत्य हो रहा था मनहारी॥
बोल उठा जो हंस देखकर कमल-कली को।
तुरत रोकना पड़ा गूँजकर चतुर अली को॥
हिली आम की डाल, चला ज्यों नवल हिँडोला।
आह कौन है ?, पंचम स्वर से कोकिल बोला॥
मलयानिल प्रहरी सा फिरता था उस वन में।
शांति शांत हो बैठी थी कामद-कानन में॥
राघव बोले देख जानकी के आनन को—
'स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को ?'
'नील मधुप को देख, वहीं उस कंज-कली ने।
स्वयं आगमन किया'—कहा यह जनक-लली ने॥
बोले राघव—'प्रिये ! भयावह से इस वन में।
शंका होती नहीं तुम्हारे कोमल मन में ?'

कहा जानकी ने हँसकर—'उसको है क्या डर ?
जिसके पास प्रवीण धनुर्द्धर ऐसा सहचर !'
कहा राम ने—'अहा, महल मंदिर मनभावन।
स्मरण न होते तुम्हें, कहो, क्या वे अति पावन ?
रहते थे झनकार-पूर्ण जो तव नूपुर से।
सुरभि-पूर्ण पुर होता था जिस अंतःपुर से ॥'
जनक-सुता ने कहा—'नाथ, यह क्या कहते हैं ?
नारी के सुख सभी साथ पति के रहते हैं ॥
कहो उसे, प्रिय प्राण ! अभाव रहा फिर किसका ?
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका ॥'

मैथिलीशरण गुप्त

पर्णकुटी के द्वार पर लक्ष्मण

चारु चंद्र की चंचल किरणें
    खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
    अवनि और अंबर-तल में ॥
पुलक प्रकट करती है धरती
    हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी
    मंद पवन के झोंकों से ॥ १ ॥
पंचवटी की छाया में है
    सुंदर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
    धीर, वीर, निर्भीकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
    जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी सा
    बना दृष्टिगत होता है ॥ २ ॥
किस व्रत में है व्रती वीर यह
    निद्रा का यों त्याग किये ?

राजभोग के योग्य विपिन में
बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका,
उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका
तन है, मन है, जीवन है? ॥ ३ ॥
मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने
स्वामि-संग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह
कुटी आज अपनाई है।
वीर-वंश की लाज वही है,
फिर क्यों वीर न हो प्रहरी?
विजन देश है, निशा शेष है,
निशाचरी माया ठहरी! ॥ ४ ॥
कोई पास न रहने पर भी
जन मन मौन नहीं रहता,
आप आप की सुनता है वह
आप आप से है कहता।
बीच बीच में इधर-उधर निज
दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है
धीर धनुर्धर नई नई ॥ ५ ॥

"क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह,
है क्या ही निःस्तब्ध निशा !
है स्वच्छंद सुमंद गंधवह,
निरानंद है कौन दिशा ?
बंद नहीं, अब भी, चलते हैं
नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकांत भाव से,
कितने शांत और चुपचाप ! ॥ ६ ॥
है बिखेर देती वसुंधरा
मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको
सदा, सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी
संध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका
नया रूप झलकाता है ॥ ७ ॥
तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके,
पर है मानो कल की बात !
वन को आते देख हमें जब
आर्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब
अवधि पूर्ण होगी वन की,

किंतु प्राप्ति होगी इस जन को
इससे बढ़कर किस धन की ? ॥ ८ ॥
और आर्य्य को ? राज्य-भार तो
वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सबको भी
मानो विवश बिसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का
हमें न इससे होगा शोक,
पर अपना हित आप नहीं क्या
कर सकता है यह नरलोक ? ॥ ९ ॥
मझली माँ ने क्या समझा था ?
कि मैं राजमाता हूँगी ?
निर्वासित कर आर्य्य राम को
अपनी जड़ें जमा लूँगी !
चित्रकूट में किंतु उसे ही
देख स्वयं करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी
निज को ही न देख सकती ! ॥१०॥
अहो ! राजमातृत्व यही था,
हुए भरत भी सब त्यागी,
पर सौ सौ सम्राटों से भी
हैं सचमुच वे बड़भागी।

एक राज्य का मूढ़ जगत ने
कितना महामूल्य रक्खा,
हमको तो मानो वन में ही
है विश्वानुकूल्य रक्खा ! ॥ ११ ॥
होता यदि राजत्वमात्र ही
लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको
छोड़ मार्ग लेते वन का ?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है,
तो हम बढ़ते जाते हैं,
किंतु मुझे तो सीधे सच्चे,
पूर्व-भाव ही भाते हैं ॥१२॥
जो हो, जहाँ आर्य्य रहते हैं
वहीं राज्य वे करते हैं,
उनके शासन में वनचारी
सब स्वच्छंद विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बंद,
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि सानंद ! ॥१३॥
करते हैं हम पतित जनों में
बहुधा पशुता का आरोप,

करता है पशुवर्ग किंतु क्या
निज निसर्ग नियमों का लोप ?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की
जननी भी कह सकता हूँ,
किंतु पतित को पशु कहना भी
कभी नहीं सह सकता हूँ ॥१४॥
आ आकर विचित्र पशु-पक्षी
यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको,
पंचवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर,
माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्या को
वे सब यहाँ रिझाते हैं ! ॥१५॥
गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल कल कर मानों
तान ले रहा है अब भी !
नाच रहे हैं अब भी पत्ते;
मन से सुमन महकते हैं
चंद्र और नक्षत्र ललककर
लालच भरे लहकते हैं ॥१६॥

वैतालिक विहंग भाभी के
संप्रति ध्यानलग्न से हैं,
नए गान की रचना में वे
कवि-कुल-तुल्य मग्न से हैं।
बीच बीच में नर्तक केकी
मानो यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल
कौन बड़ाई लेता है? ॥१७॥
आँखों के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ-तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिम-कणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की
वैसी विमल रम्य रुचि है? ॥१८॥
मुनियों का सत्संग यहाँ है
जिन्हें हुआ है तत्त्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे
नित्य नए अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कंटकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,

गौरव-गंध उन्हें उतना ही
अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला ॥१९॥
शुभ सिद्धांत-वाक्य पढ़ते हैं
शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनि-कन्याएँ यश गाती हैं
क्या ही पुण्य-पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन-राज्य में
सुख-पूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर
आकर पानी पीते हैं! ॥२०॥
गुह, निषाद, शवरों तक का मन
रखते हैं प्रभु कानन में;
क्या ही सरल वचन रहते हैं
इनके भोले आनन में!
इन्हें समाज नीच कहता है,
पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं,
किंतु नहीं वैसी वाणी ॥२१॥
कभी विपिन में हमें व्यंजन का
पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कंद, मूल, फल—
आयोजनमय भोजन है।

मन:प्रसाद चाहिए केवल,
क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद ?
भाभी का आह्लाद अतुल है,
मझली माँ का विपुल विषाद ! ॥२२॥
अपने पौधों में जब भाभी
भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निरातीं
जब वे अपनी खेती हैं
पाती हैं तब कितना गौरव,
कितना सुख, कितना संतोष !
स्वावलंब की एक झलक पर
न्यौछावर कुबेर का कोष ॥२३॥
सांसारिकता में मिलती है
यहाँ निराली नि:स्पृहता,
अत्रि और अनसूया की सी
होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानो है यह भुवन भिन्न ही
कृत्रिमता का काम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी,
कहीं विकृति का नाम नहीं ॥२४॥
स्वजनों की चिंता है हमको
होगा उन्हें हमारा सोच,

यही एक इस विपिन-वास में
दोनों ओर रहा संकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही
कभी नहीं सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका
रक्षित सा रहता है क्षेम ॥२५॥

इच्छा होती है, स्वजनों को
एक बार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा
उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को
वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानो वन-विहार में रत हैं
ये वैसे ही श्रीसंपन्न! ॥२६॥

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो
उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह
सहन-शक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी
तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की
स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह ॥२७॥

नहीं जानतीं, हाय ! हमारा,
माताएँ आमोद-प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल,
कितनी बड़ी प्रकृति की गोद ।
इसी खेल को कहते हैं क्या
विद्वज्जन जीवन-संग्राम ?
तो इसमें सुनाम कर लेना
है कितना साधारण काम !" ॥२८॥

रामनरेश त्रिपाठी

पथिक को साधु का उपदेश

बोले मुनि—"हे पुत्र ! जगत को तुमने त्याग दिया है।
प्रेम-स्वाद चख मोहित हो वन में विश्राम लिया है॥
अपनी अद्भुत शक्ति भूल अज्ञानी सा बन बन में।
फिरते हो तुम चकित विमोहित प्रकृति-रूप-दर्शन में॥
'जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म-निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सब के निश्चित व्रत हैं॥
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है॥
"सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़काकर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में—रक्षण में॥
कोमल मलय-पवन घर घर में सुरभि बाँट आता है।
सस्य सींचने घन जीवन धारण कर नित जाता है॥
"रवि जग में शोभा सरसाता सोम सुधा बरसाता।
सब हैं लगे कर्म में, कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता॥
है उद्देश्य नितांत तुच्छ तृण के भी लघु जीवन का।
उसी पूर्ति में वह करता है अंत कर्ममय तन का॥
"तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल-विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा ?
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में।
क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिये तुमने निज जीवन में ?

"जिस पर गिर कर उदर-दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुधा-सम नीर समीर पिया है॥
जिस पर खड़े हुए, खेले, घर बना बसे सुख पाये।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाये॥
"वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
हाथ पकड़कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया।
भाषा सिखा हृदय का अद्भुत रूप स्वरूप दिखाया॥
"जिनकी कठिन कमाई का फल खाकर बड़े हुए हो।
दीर्घ देह ले बाधाओं में निर्भय खड़े हुए हो॥
जिनके पैदा किये, बुने वस्त्रों से देह ढके हो।
आतप-वर्षा-शीत-काल में पीड़ित हो न सके हो॥
"क्या उनका उपकार-भार तुम पर लवलेश नहीं है?
उनके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
सतत ज्वलित दुख-दावानल में, जग के दारुन रन में।
छोड़ उन्हें कायर बनकर तुम भाग बसे निर्जन में॥
"केवल सुनकर कष्ट, तुम्हारा विचलित हुआ हृदय है।
मनुष्यता के लिये घोर लज्जा, अति निंद्य विषय है॥
शुद्ध प्रेम के मर्म, प्रेम की महिमा से परिचित हो।
प्रेम-मार्ग के पथिक, प्रेम-पीड़ा से व्याकुल-चित हो॥
"तुम्हें उचित था, तुम उदार बनकर घर घर में जाते।
अमित प्रेम-निधि एक एक प्राणी को मुफ्त लुटाते॥

किंतु कृपण बन सब समेट सानंद स्वयं रहते हो।
इस पर भी तुम स्वार्थ-ग्रसित कुत्सित जग को कहते हो!
"केवल अपने लिये सोचते मौज भरे गाते हो।
जीते, खाते, सोते, जगते, हँसते, सुख पाते हो॥
जग से दूर, स्वार्थ-साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं, कौन जन जग में तुमसा स्वार्थ-विवश है!
"त्राहि त्राहि सब ओर मची थी जहाँ प्राणि-मंडल में।
आँखों ने देखो क्या हित की अनुपस्थिति उस थल में?
सदुपदेश से सफल हुई क्या भाषण-शक्ति तुम्हारी?
दयावान कर सकी किसी निष्ठुर को भक्ति तुम्हारी?
"आवश्यकता की पुकार को श्रुति ने श्रवण किया है?
कहो, करों ने आगे बढ़ किसको साहाय्य दिया है?
आर्त्तनाद तक कभी पदों ने क्या तुमको पहुँचाया?
क्या नैराश्य-निमग्न जनों को तुमने कंठ लगाया?
"कभी उदर ने भूखे जन को प्रस्तुत भोजन पानी।
देकर मुदित भूख के सुख की क्या महिमा है जानी?
मार्ग-पतित असहाय किसी मानव का भार उठाके।
पीठ पवित्र हुई क्या सुख से उसे सदन पहुँचाके?
"मस्तक ऊँचा हुआ तुम्हारा कभी जाति-गौरव से?
अगर नहीं, तो देह तुम्हारी तुच्छ अधम है शव से॥
भीतर भरा अनंत विभव है उसकी कर अवहेला।
बाहर सुख के लिये अपरिमित तुमने संकट झेला॥

"जिसे प्रेम से बहुत समीप सहज ही पा सकते थे।
अंधे सा उसको टटोलते अब तक तुम थकते थे॥
यदि तुम अपनी अमित शक्ति को समझ काम में लाते।
अनुपम चमत्कार अपना तुम देख परम सुख पाते॥
"यदि उद्दीप्त हृदय में सच्चे सुख की हो अभिलाषा।
वन में नहीं, जगत में जाकर करो प्राप्ति की आशा॥
जाओ पुत्र! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ॥
"दुख में बंधु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में॥
भ्रम में ज्योति, सुमति संपति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रांति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में॥
"जनता के विश्वास, कर्म, मन, ध्यान, श्रवण, भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में॥
अति अशांत दुखपूर्ण विशृंखल क्रांति-उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय प्रति पग में॥
"जग की विषम आँधियों के झोंके सम्मुख हो सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना॥
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अंधकार में शांत चंद्र सा ध्रुव सा निश्चल भय में॥
"तुम्हें स्मरण करके उदार, संयमी, सच्चरित जन हों।
पर-दुख देख दूर करने की उत्सुकता-मय मन हों॥

जनता सुनकर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।
सत्य न्याय के संरक्षण में मुदित प्राण तक त्यागे॥
"जग में सुख की प्राप्ति के लिए एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्गुण को सद्गुण लाता सुख है॥
बाधा, विघ्न, विपत्ति, कठिनता जहाँ जहाँ सुन पाना।
सबके बीच निडर हो जाना दुख को गले लगाना॥
"घृणित अछूत अकिंचन जग में जो जन है जितना ही।
तुमसे है वह प्रेम-प्राप्ति का पात्र अधिक उतना ही॥
जो कहते हो जगत महामाया है, भीषण भ्रम है।
इस विचार में तुमको ही धोखा है, भ्रांति विषम है॥
"एक अनंत शक्ति वसुधा का संचालन करती है।
वह स्वतंत्र इच्छा से लय, उद्भव, पालन करती है॥
उसी शक्ति से ग्रह नियमित कक्षा में चकराते हैं।
किंतु चीरकर महाशून्य को केतु निकल जाते हैं॥
"उसी शक्ति से सुंदर घन से सुधा-बिंदु झड़ता है।
करता हाहाकार वज्र पृथ्वी पर आ पड़ता है॥
उसी शक्ति की सुखद प्रेरणा शुद्ध आत्म-सम्मति है।
करो उसी का कर्म, उसी की नियत समस्त प्रगति है॥
"परम विचित्र यंत्र यह जग है उसी शक्ति से चलता।
मत करना अभिमान मिले जो तुमको कभी सफलता॥
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो, कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म मृत्यु ही तुम्हारे जीवन की अभिलाषा॥"

गोपालशरण सिंह

ब्रज-वर्णन

आते जो यहाँ हैं ब्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते, होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते, उस ओर मनभाते दृश्य
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं॥
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुध-सिंधु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी, कन्हैया यहाँ
मैया मैया टेरते हैं, गैया को चराते हैं॥ १॥
करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृंग
उर-कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण कण में है यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी
मंजु मनोहारी मूर्ति मंजुल मुरारी की॥
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन-धारी की?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही
जन-मन-हारी वृंदा-विपिन-विहारी की॥ २॥
अंकित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-वल्लियों में और फूल फूल में।

भूमि ही यहाँ की सब काल बतला सी रही,
ग्वाल-बाल संग वह लोटे इस धूल में ॥
कल कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिंदजा के कूल में ।
ग्राम ग्राम धाम धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किंतु वे छिपे हैं मंजु-मानस-दुकूल में ॥ ३ ॥
गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहाँ,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की ।
भूल सकता है कोई ब्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चारु वनमाल की ?
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मंजु मंद मंद नंद-नंदन की चाल की ।
रहती दृगों में छाई, उर में समाई सदा,
छवि मनभाई बाल मदन-गोपाल की ॥ ४ ॥
अब भी मुकुंद रहते हैं ब्रज-भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेरके ।
छिपे उर-कुंज में हैं वृंदावन-वासियों के,
थकते वृथा ही लोग उन्हें हेर हेरके ॥
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी,
रहतीं उन्हीं के आस-पास घेर घेरके ।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानो हैं बुलाते "श्याम श्याम" टेर टेरके ॥ ५ ॥

जिसने विपत्तियों से ब्रज को बचाया सदा,
दिव्य बल-पौरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश-प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में॥
सबको सदैव सिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मनभाया है समाया वृंदावन में॥ ६॥

वही मंजु मही, वही कलित कलिंदजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छवि-धाम हैं।
वही वृंदावन है, निकुंज द्रुम-पुंज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं॥
वही गिरिराज, गोपजन का समाज वही,
वही सब साज-बाज आज भी ललाम हैं।
ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ-नाम घनश्याम हैं॥ ७॥

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है।
फूली-फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है॥
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनातीं सदा,
कूक कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।

हरी-भरी दृग-सुखदाई मनभाई मंजु
यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ॥ ८ ॥
सुखद सजीली सस्य-श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रँगी है प्रेम-भाव से ।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छूके,
शीश पर उसको चढ़ाते भक्त चाव से ॥
पाप-पुंज-नाशी उर-कमल-विकासी हुआ
यमुना-सलिल बस उनके प्रभाव से ।
कर दिया पूरा उसे वर वृंदावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ॥ ९ ॥

सियारामशरण गुप्त

एक फूल की चाह

[१]

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ,
हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचंड हो
फैल रही थी इधर-उधर।
क्षीण-कंठ मृतवत्साओं का
करुण-रुदन दुर्दांत नितांत,
भरे हुए था निज कृश रव में
हाहाकार अपार अशांत।
बहुत रोकता था सुखिया को,
'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका,
नहीं ठहरती वह पल भर।
मेरा हृदय काँप उठता था
बाहर गई निहार उसे;
यही मनाता था कि बचा लूँ
किसी भाँति इस बार उसे।
भीतर जो डर रहा छिपाये,

हाय ! वही बाहर आया ।
एक दिवस सुखिया के तनु को
ताप-तप्त मैँने पाया ।
ज्वर में विह्वल हो बोली वह,
क्या जानूँ किस डर से डर,—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर

[२]

बेटी, बतला तो तू मुझको
किसने तुझे बताया यह;
किसके द्वारा, कैसे, तूने
भाव अचानक पाया यह ?
मैं अछूत हूँ, मुझे कौन, हा !
मंदिर में जाने देगा;
देवी का प्रसाद ही मुझको
कौन यहाँ लाने देगा ?
बार बार, फिर फिर, तेरा हठ !
पूरा इसे करूँ कैसे;
किससे कहूँ कौन बतलावे,
धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?
कोमल कुसुम-समान देह हा !
हुई तप्त अंगार-मयी;

प्रति-पल बढ़ती ही जाती है
विपुल वेदना, व्यथा नई।
मैंने कई फूल ला लाकर
रक्खे उसकी खटिया पर;
सोचा,—शांत करूँ मैं उसको,
किसी तरह तो बहलाकर।
तोड़-मोड़ वे फूल फेंक सब
बोल उठी वह चिल्लाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर!

[३]

क्रमश: कंठ क्षीण हो आया,
शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव नव उपाय की
चिंता में, मैं मन मारे।
जान सका न प्रभात सजग से
हुई अलस कब दोपहरी,
स्वर्ण-घनों में कब रवि डूबा,
कब आई संध्या गहरी।
सभी ओर दिखलाई दी बस,
अंधकार की ही छाया,
छोटी सी बच्ची को ग्रसने

कितना बड़ा तिमिर आया !
ऊपर विस्तृत महाकाश में
जलते से अंगारों से,
झुलसी सी जाती थीं आँखें
जगमग जगते तारों से।
देख रहा था—जो सुस्थिर हो
नहीं बैठती थी क्षण भर,
हाय ! वही चुपचाप पड़ी थी
अटल शांति सी धारण कर।
सुनना वही चाहता था मैं
उसे स्वयं ही उकसाकर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[४]

हे मातः, हे शिवे, अंबिके,
तप्त ताप यह शांत करो;
निरपराध छोटी बच्ची यह,
हाय ! न मुझसे इसे हरो !
काली कांति पड़ गई इसकी,
हँसी न जाने गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण क्षीणतर
साँसों में ही, हाय ! यहाँ,

अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई ही
है यदि तेरी तृषा नितांत,
तो कर ले तू उसे इसी क्षण
मेरे इस जीवन मे शांत !
मैं अछूत हूँ, तो क्या मेरी
विनती भी है, हाय ! अपूत,
उससे भी क्या लग जावेगी
तेरे श्री-मंदिर को छूत ?
किसे ज्ञात, मेरी विनती वह
पहुँची अथवा नहीं वहाँ,
उस अपार सागर का दीखा
पार न मुझको कहीं वहाँ।
अरी रात, क्या अक्षयता का
पट्टा लेकर आई तू,
आकर अखिल विश्व के ऊपर
प्रलय-घटा सी छाई तू !
पग भर भी न बढ़ी आगे तू
डटकर बैठ गई ऐसी,
क्या न अरुण आभा जागेगी,
सहसा आज विकृति कैसी !
युग के युग से बीत गये हैं,
तू ज्यों की त्यों है लेटी,

पड़ी एक करवट कब से तू,
बोल, बोल, कुछ तो, बेटी!
वह चुप थी, पर गूँज रही थी
उसकी गिरा गगन भर भर,—
'मुझको देवी के प्रसाद का—
एक फूल तुम दो लाकर!'

[५]

"कुछ हो, देवी के प्रसाद का
एक फूल तो लाऊँगा;
हो तो प्रातःकाल, शीघ्र ही
मंदिर को मैं जाऊँगा।
तुझ पर देवी की छाया है,
और इष्ट है यही तुझे;
देखूँ, देवी के मंदिर में
रोक सकेगा कौन मुझे।"
मेरे इस निश्चल निश्चय ने
झट से हृदय किया हलका;
ऊपर देखा,—अरुण राग से
रंजित भाल नभस्थल का!
झड़ सी गई तारकावलि थीं
म्लान और निष्प्रभ होकर;

निकल पड़े थे खग नीड़ों से
मानो सुध-बुध सी खोकर।
रस्सी-डोल हाथ में लेकर,
निकट कुएँ पर जा, जल खींच,
मैंने स्नान किया शीतल हो,
सलिल-सुधा से तनु को सींच।
उज्ज्वल वस्त्र पहन, घर आकर,
अशुचि ग्लानि सब धो डाली;
चंदन-पुष्प-कपूर-धूप से
सज ली पूजा की थाली।
सुखिया के सिरहाने जाकर
मैं धीरे से खड़ा हुआ;
आँखें झँपी हुई थीं, मुख भी
मुरझा सा था पड़ा हुआ।
मैंने चाहा,—उसे चूम लूँ,
किंतु अशुचिता से डरकर
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़कर,
खड़ा रहा कुछ दूरी पर।
वह कुछ कुछ मुसकाई सहसा,
जाने किन स्वप्नों में लग्न,
उसकी वह मुसकाहट भी, हा!
कर न सकी मुझको मुद-मग्न।

अक्षम मुझे समझकर क्या तू
हँसी कर रही है मेरी ?
बेटी, जाता हूँ मंदिर मैं
आज्ञा यही समझ तेरी।
उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही
बोल उठा तब धीरज धर,—
तुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल तो दूँ लाकर !

[६]

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर
मंदिर था विस्तीर्ण विशाल;
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे
पाकर समुदित रवि-कर-जाल।
परिक्रमा सी कर मंदिर की,
ऊपर से आकर झर झर,
वहाँ एक झरना झरता था
कल कल मधुर गान कर कर।
पुष्प-हार सा जँचता था वह
मंदिर के श्री-चरणों में,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी
पूजा के उपकरणों में।

दीप-धूप से आमोदित था
मंदिर का आँगन सारा;
गूँज रही थी भीतर बाहर
मुखरित उत्सव की धारा।
भक्त-वृंद मृदु-मधुर कंठ से
गाते थे सभक्ति मुद-मय,—
'पतित-तारिणी पाप-हारिणी,
माता, तेरी जय जय जय!'
'पतित-तारिणी, तेरी जय जय'—
मेरे मुख से भी निकला,
बिना बढ़े ही मैं आगे को
जाने किस बल से ढिकला!
माता, तू इतनी सुंदर है,
नहीं जानता था मैं यह;
माँ के पास रोक बच्चों की,
कैसी विधि यह तू ही कह?
आज स्वयं अपने निदेश से
तूने मुझे बुलाया है;
तभी आज पापी अछूत यह
श्री-चरणों तक आया है!
मेरे दीप-फूल लेकर वे
अंबा को अर्पित करके,

किया पुजारी ने प्रसाद जब
आगे को अंजलि भरके,
भूल गया उसका लेना झट,
परम लाभ सा पाकर मैं।
सोचा,—बेटी को माँ के ये
पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं।

[७]

सिंह-पौर तक भी आँगन से
नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—"कैसे
यह अछूत भीतर आया ?
पकड़ो, देखो भाग न जावे,
बना धूर्त्त यह है कैसा;
साफ-स्वच्छ परिधान किए है,
भले-मानुषों के जैसा !
पापी ने मंदिर में घुसकर
किया अनर्थ बड़ा भारी;
कलुषित कर दी है मंदिर की
चिरकालिक शुचिता सारी।"
ऐं, क्या मेरा कलुष बड़ा है
देवी की गरिमा से भी;

किसी बात में हूँ मैं आगे
माता की महिमा के भी ?
माँ के भक्त हुए तुम कैसे,
करके यह विचार खोटा ?
माँ के सम्मुख ही माँ का तुम
गौरव करते हो छोटा।
कुछ न सुना भक्तों ने, झट से
मुझे घेरकर पकड़ लिया;
मार-मारकर मुक्के-घूँसे
धम से नीचे गिरा दिया !
मेरे हाथों से प्रसाद भी
बिखर गया हा ! सब का सब,
हाय ! अभागी बेटी, तुझ तक
कैसे पहुँच सके यह अब।
मैंने उनसे कहा,—दंड दो
मुझे मारकर, ठुकराकर,
बस यह एक फूल कोई भी
दो बच्चो को ले जाकर।

[८]

न्यायालय ले गए मुझे वे,
सात दिवस का दंड-विधान

मुझको हुआ; हुआ था मुझसे
देवी का महान अपमान !
मैंने स्वीकृत किया दंड वह
शीश झुकाकर चुप ही रह;
उस असीम अभियोग दोष का
क्या उत्तर देता, क्या कह ?
सात रोज ही रहा जेल में,
या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रांत वर्षा करके भी
आँखें तनिक नहीं रीतीं।
कैदी कहते—"अरे मूर्ख, क्यों
ममता थी मंदिर पर ही ?
पास वहीं मसजिद भी तो थी,
दूर न था गिरजाघर भी।"
कैसे उनको समझाता मैं,
वहाँ गया था क्या सुख से;
देवी का प्रसाद चाहा था
बेटी ने अपने मुख से।

[९]

दंड भोगकर जब मैं छूटा,
पैर न उठते थे घर को;

पीछे ठेल रहा था कोई
भय-जर्जर तनु-पंजर को।
पहले की सी लेने मुझको
नहीं दौड़कर आई वह;
उलझी हुई खेल में ही, हा!
अबकी दी न दिखाई वह।
उसे देखने मरघट को ही
गया दौड़ता हुआ वहाँ,—
मेरे परिचित बंधु प्रथम ही
फूँक चुके थे उसे जहाँ।
बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर,
छाती धधक उठी मेरी,
हा! फूल सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी!
अंतिम बार गोद में, बेटी,
तुझको ले न सका मैं, हा!
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मैं, हा!
वह प्रसाद देकर ही तुझको
जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के
दंड न पा सकता था क्या?

बेटी की छोटी इच्छा वह
      कहीँ पूर्ण मैँ कर देता,
तो क्या, अरे दैव, त्रिभुवन का
      सभी विभव मैँ हर लेता ?
यहीँ चिता पर धर दूँगा मैँ,
      —कोई अरे सुनो, वर दो,—
मुझको देवी के प्रसाद का
      एक फूल ही लाकर दो।

सुमित्रानंदन पंत

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल-कल्पना,
चातक के चिर-जीवनधर;
मुग्ध-शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग-वर्ग के गर्भ-विधायक,
कृषक-बालिका के जलधर।

जलाशयों में कमल-दलों सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक सा वायु सकल दल
बिखरा देता, चुन सत्वर,
लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर।

विपुल कल्पना से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अङ्क,

हम फिर क्रीड़ा-कौतुक करते,
छा अनंत-उर में निःशङ्क।
कभी चौकड़ी भरते मृग से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतङ्गज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;
कभी कीश से अनिल-डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
बृहत् गृद्ध से विहग-छदों को
बिखराते नभ में तरते।
फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।
अनिल-विलोड़ित गगन-सिंधु में
प्रलय-बाढ़ से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
दमयन्ती सी कुमुद-कला के
रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस से हम मृदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय-संदेश ललाम।

स्वर्ण-भृंग-तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित, तरल, रसाल,
मधुगृह से हम गगन-पटल में
लटके रहते विपुल-विशाल;

व्योम-विपिन में जब वसंत सा
खिलता नव-पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के से पात;

उदयाचल में बाल-हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात,
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात।

धीरे धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से
फैल लालसा से निशि-भोर;

इंद्रचाप सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन चिंता से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार—

काल-चक्र से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार;
कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँधकर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही से निस्सार।

रस-चषक

अलि हौं तौ गई जमुना-जल को सो कहा कहौं, बीर, बिपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागर सीस धरी ॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन, ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥१॥

—मंडन

पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! यथारथ ह्वै दरसौ ।
निधिनीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सज्जनता सरसौ ॥
घन आनँद, जीवनदायक हौ, कबौं मेरिऔ पीर हिए परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ ॥२॥

—घनानंद

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं ॥३॥

—तुलसी

घोड़ा गिरयो घर-बाहर हीं महाराज कछू उठवावन पाऊँ ।
होय कहाँरन को जो पै आयसु डोली चढ़ाय इहाँ तक लाऊँ ॥

ऐंड़ो गिरयो बिच पैंड़ोइ माइँ चलै पग एक ना कैसे चलाऊँ ।
जीन धरौं कि धरौं तुलसी मुँह देहुँ लगाम कि राम कहाऊँ ॥४॥

—अज्ञात

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको ।
सोई हौं बूझत राजसभा, धनु कै दल्यौ, हौं दलिहौं बल ताको ॥
लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै मरिहै करिहै कछु साको ।
गोरो गरूर गुमान भरो, कहु कौशिक, छोटो सो ढोटो है काको ॥५॥

—तुलसी

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे घोरे सों सँहारे,
रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की ।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहें,
हहरानी फौजें भहरानी जातुधान की ॥
बार बार सेवक-सराहना करत राम,
तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की ।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ, देखौ, लषन, लरनि हनुमान की ॥६॥

—तुलसी

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं ।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज हैं ॥

दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण, बितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं ॥७।

—भूषण

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि
तुरत लुटावत, बिलंब उर धारै ना।
कहै पदमाकर, सो हेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितर बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें, गरे तें, निज गोद तें उतारै ना ॥८॥

—पद्माकर

ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मुंड के कमंडलु खपर किए कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै॥
सोनित सोँ सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।

तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥६॥
—तुलसी

लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बार बार हीं॥
हय हिहिनात भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं ॥१०॥
—तुलसी

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥
तीखो तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥११॥
—तुलसी

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन, ता थल काँकरि बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं॥
आलम, जौन से कुंजनि में करी खेल, तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
आँखिन में जे सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।१२।
—आलम

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥१३॥

—रसखान

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिँदि-कूल कदंब की डारन॥१४॥

—रसखान

टिप्पणी

कबीरदास

[कबीर का जन्म मगहर (जिला बस्ती) में हुआ था। कब हुआ था, इसका निश्चय नहीं। कोई संवत् १४५६ में मानते हैं और कोई सवत् १४६७ में। कबीर मुसलमान जुलाहे थे। उनके पिता का नाम नूरुद्दीन और माता का नीमा कहा जाता है। जब उनकी अवस्था थोड़ी ही थी, उनका पिता परिवार सहित काशी चला आया। कुछ लोग उनका जन्म लहरतारा (काशी) में ही मानते हैं। वहाँ वे साधुओं के सत्संग में रहने लगे। अपना सारा रहन-सहन उन्होंने हिंदुओं के ऐसा कर लिया। उनके हृदय में वैराग्य जग गया था। उनकी जिज्ञासा बहुत बढ़ने लगी। स्वामी रामानंदजी उन दिन काशी में थे। कबीर ने उन्हें अपना गुरु बनाया। उन्होंने सूफियों का भी सत्संग किया था। उन्होने अपना अलग पंथ चलाया जिसमें वेदांत और सूफी मत के आधार पर सबकी एकता सिद्ध की गई थी। यही कबीर-पंथ कहलाया। कबीर की शिक्षाएँ बीजक ग्रंथ में संगृहीत हैं। बीजक में तीन प्रधान खंड हैं—साखी, सबद और रमैणी। हिंदू-मुसलमान दोनों ने कबीर की शिक्षाएँ ग्रहण कीं और दोनों ही के धर्म-पुरोहितों ने उनका विरोध किया। सिकंदर लोदी के पास जब फर्याद पहुँची तो उसने उन्हें काशी से निकलवा दिया। फिर वे मगहर चले गए और वहीं सं० १५७५ में उनकी मृत्यु हुई।]

(१) साखी

दे० १-१५—साखी–साक्षी, सबूत। संतो ने अपने दोहों में परमात्मा का सबूत दिया है इसलिये उनके दोहे साखी कहाते हैं। माली–काल के लिये अन्योक्ति। बाढ़ी–बढ़ई (काल)। तरवर–वृक्ष, शरीर। डोलन लाग–बुढ़ापे का कंप। पंखेरू–पक्षी, प्राण। फागुन–पतझड़ का महीना (काल)। रूना–रोया। पीले थाहिं–पीले होते जाते हैं। कस्तूरी का मिरग–इस मृग की नाभि में कस्तूरी की थैली रहती है। लेकिन यह स्वयं इस बात को नहीं जानता और बास को सूँघता फिरता है कि यह सुगंधि कहाँ से आ रही है। जलहरि–जलधर, जलाशय। जिभ्या–जिह्वा। बासिक–वासुकि, सर्प। जिसी–जैसी। जिमीं–पृथ्वी। पाँणी–पानी। थोथा–खाली, जिसमें छिलका या भुस ही भुस हो। लहँड़े–झुंड। लाल–एक मणि।

दे० १६-३८—दंड–दुःख। खूँदन–कुचला और खोदा जाना। बनराइ–वनराजि। करगस–बाण। कर ऊँचा होना–दान देना। दिया–दान। उलीचिए–बाहर फेंकिए। खंखर–वीरान। भरे भरि–भर भरकर। सरीराँ–शरीर से। जगाती–महसूल लेनेवाला।

(२) सबद

सबद–गाने की चीज, पद। संतों का मत है कि भीतर परमात्मा अपना शब्द उच्चारण करते रहते हैं। इसी को अनहद शब्द कहते हैं। संतों के गानों में इसी शब्द का प्रकाश रहता है इसी लिये वे भी शब्द या सबद कहलाते हैं।

१—भुलायगा–भूल गया, धोखा खा गया।

२—आतम–आत्मा। डिंभ–दंभ।

३—जिह–जिसने। गये–नाश हुए।

४—बिलोवसि–मथता है। माँजसि–धोता है। कौन गुना–क्या लाभ या किस हेतु। मलनाँ–मलिन। लौकी–तूँबी।

५—भावे इ०–चाहे जान या न जान। सचु–सुख। डहके–बहकाए।

६—बागड़ देस–रेगिस्तान, यह संसार। दाझन–जलना। हंसा–जीव। देस मालवा–मालवा की भूमि बड़ी उपजाऊ है, सिंचाई के लिये भी अच्छा सुबीता है; पारमात्मिक जीवन। घरहीँ–हृदय में स्थित परमात्मा में। गूँगे का गुड़ गूँगै जाँनाँ–परमात्मा के मिलने का आनंद उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता जैसे गूँगा गुड़ खाकर उसका स्वाद नहीं बतला सकता।

मलिक मुहम्मद जायसी

[मलिक मुहम्मद प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिउद्दीन के शिष्य थे। जायस में रहने के कारण ये जायसी कहलाते हैं। ये एक आँख के काने और एक कान के बहरे थे। इन्होंने सं० १५६७ के लगभग शेरशाह के समय में अपना प्रसिद्ध ग्रथ पद्मावत रचा। वेदांत के मत का विवेचन करते हुए इन्होंने एक ग्रथ अखरावट भी लिखा है।]

गोरा बादल की वीरता

पृ० ७. गोरा बादल—गोरा चित्तौर के राजा रत्नसेन का सामंत

था। इतिहास में बादल उसका भतीजा माना गया है, परंतु जायसी ने पुत्र माना है। कथा चलती है कि दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन राजा रत्नसेन की स्त्री पदमावती की अनुपम सुंदरता पर मुग्ध था और उसे प्राप्त करना चाहता था। इसलिये उसने चित्तौर पर आक्रमण किया पर विजय होती हुई न दिखाई दी। अलाउद्दीन को अब छल सूझा। उसने संधि का प्रस्ताव भेजा। गोरा-बादल ने राजा को सावधान रहने की चेतावनी दी पर उसने ध्यान न दिया। सुलतान चित्तौर गढ़ में अतिथि होकर आया था। रत्नसेन उसको पहुँचाने के लिये अंतिम फाटक तक गया। वहाँ से उसे मुसलमान कैद करके दिल्ली ले आए। अब पदमावती ने गोरा-बादल की शरण ली। उन्होंने भी एक छल सोचा। सुलतान को खबर दी गई कि पदमावती आएगी सही पर रानी के योग्य ठाठ के साथ। वह पहले कैदखाने में राजा से मिलकर चित्तौर की कुंजी सौंपेगी तब शाही हरम में जायगी। सुलतान ने इस शर्त पर राजा को छोड़ना स्वीकार किया। पाँच सौ डोलियों में सहेलियों के स्थान पर हथियारबंद सिपाही, और ले जानेवाले कहार भी सिपाही, रखे गए। पदमावती की डोली में उसकी जगह एक लोहार को बिठाया गया।

बँदि–बंधन। जस–जैसे ही कि। कुँवर–राजपूत सरदार जो पालकियों में थे। मिरिग–मृग (मुसलमान)। गोहारी–पुकार। कटक–सेना। असूझ–दिखाई नहीं देता था। कारी–कालिमा, अंधकार। फिरि–मुड़कर, पीछे ताककर। गहन छूटि पुनि चाहै गहा–ग्रहण छूटकर अब फिर ग्रहण लगना चाहता है। लोपत–छिपाता

हुआ। गोइ–गोय, गद। जोरा–खेल का जोड़ा या प्रतिद्वंद्वी, या बल के साथ। चौगान--गेंद मारने का डंडा। सीस-रिपु–रिपु-सीस, शत्रु का सिर। हाल–कप, हलचल। अगमन–आगे। तुइ इ०–बादल का कथन। आउ भरी इ०–पूरी आयु पा ली और भोग ली। पूजी–समाप्त हो गई। बूझी–समझकर। समदि–भेंटकर। पूरुष–योद्धा। सुल-तानी–सुलतान का। मसि–अंधकार। दिन–दिन में ही।

पृ० ८. हाँका–ललकारा। साका–महान् वीरतापूर्ण कार्य। गोरा–(क) गोरा सामंत, (ख) श्वेत। ओनई–उमड़ी। हरद्वानी–हलद्वान की तलवार प्रसिद्ध थी। सेल–भाला। बानी–कांति, चमक। गोरै–गोरा ने। स्योँ–साथ। कूँड़–लोहे की टोपी जो लड़ाई में पहनी जाती है। बगमेल–घोड़ों की मुठभेड़। गज-पेल–हाथियों की रेल-पेल। जूझ—युद्ध। अधर धर मारै–धड़ या कबंध आकाश में वार करता है। कहा जाता है कि कबंध आकाश में लड़ते हैं। कंध–धड़ ही धड़। निरारै–बिल्कुल, यहाँ से वहाँ तक (अवध)। भोगी–जो भोग-विलास करनेवाले सरदार थे। भारत–घोर युद्ध। कुँवर–गोरा के साथी राजपूत। निबरे–समाप्त हुए। गोरै–गोरा ने। देख–देखा। बूझा–समझा। सामुँह–सामने। रन मेला–युद्ध आरंभ किया। ठटा–ठठ, समूह। करवारू–करवाल, तलवार। स्योँ–साथ। टूटै–कटकर गिर जाता है। निनारे–अलग। माढ–मटके। चाँचरि–होली का नाच।

पृ० ९. धूका–झुका। भभूका–अँगारे सा लाल। करहु एहि हाथ–इसे पकड़ो। रतन–राजा रतनसेन। पदारथ–अर्थात् पदमावती।

छेका–घेरा। गूँजत–गरजता हुआ। टेका–पकड़ा। पलटि सिंघ... आवा–जहाँ से आगे बढ़ता है वहाँ पीछे हटकर फिर नहीं आता। बोलै बाँहाँ–(वह मुँह से नहीं बोलता है) उसकी बाँहें खड़कती हैं। धरावा–पकड़ाता है। घिसियावा–घिसियावें, घसीटें। सौहहिं–केवल सामने। रतनसेन जो...गात–रत्नसेन जो बाँधे गए इसका कलंक गोरा के शरीर पर लगा हुआ है। रुधिर–रुधिर से। रात–लाल अर्थात् कलंकरहित। सरजा–अलाउद्दीन का एक दैवी-शक्ति-संपन्न सरदार। बाजा–भिड़ा। बरियारू–बलवान्। साँग–भाला। काढ़ेसि हुमुकि–सरजा ने जब भाला जोर से खींचा। खसी–गिरी। रावन राव–राजाओं का राजा। तुरय–घोड़ा। अंत त इ०–आखिर गिरकर सिर को धूल में भरना ही है। सरजै–सरजा ने। घाऊ–आघात। जनु परा निहाऊ–मानो निहाई पर पड़ा (अर्थात् साँग को न काट सका)। डाँड़ा–खड्ग। गाजा–बिजली।

पृ० १०. हठि–जोर से। सदूर–शार्दूल (सरजा)। लागि–मुठभेड़ या युद्ध में। बरिबंडा–बलवान्। तस बाजा–ऐसा आघात पड़ा। ढाँठर–ठठरी। तासू–उसका (गोरा का)। फिरा संसारू–आँखों के सामने संसार न रह गया। नियराना–पास पहुँचा। सुर पहुँचावा पान–देवताओं ने पान का बीड़ा दिया, देवता युद्ध में मरे वीरों का सत्कार करते हैं।

सूरदास

[सूरदास का जन्म संवत् १५४० के लगभग मथुरा और आगरा के बीच रुनकता गाँव में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण बताए जाते

हैं पर अनेक लोग इन्हें चंद वरदाई के वंशधर मानते हैं। ये बहुत दिनों तक निराश्रय फिरते रहे। एक बार कुएँ में गिर पड़े, छः दिन तक वहीं पड़े रहे। आखिर निस्सहायों के सहाय भगवान् ने कृष्ण-रूप में इन्हें दर्शन दिए और कुए से बाहर निकाला। उस समय इनकी दृष्टि भी खुल गई। सूरदास ने वर माँगा कि जिस दृष्टि से आपको देखा है उससे साधारण चीजें न देखनी पड़ें और सदा आपका ध्यान हृदय में रहे। इसी से सूरदास फिर अंधे हो गए। अपने प्रभु की लीलाभूमि में इन्होंने आश्रम बनाया। ये बड़े भक्त कवि हुए। ये सवा लाख पदों के रचयिता प्रसिद्ध हैं। पर अभी तक इनके मुश्किल से छः हजार पद मिलते हैं, जो 'सूरसागर' में संगृहीत हैं। गोसाईं विट्ठलनाथजी ने आठ प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवियों की अष्टछाप नामक मंडली स्थापित की थी जिसमें उन्होंने सूरदास को सबसे पहला स्थान दिया।]

पद

१-३—रागी–प्रेमी। जातना–यातना, पीड़ा। करो–पालन करो। नार–नाला। पन–प्रण। झगरो–यह सब झगड़ा है। अनत–अन्यत्र। करील–एक काँटेदार झाड़ी।

४-१६—बार–देर। गुहत–गूँथते हुए। ओंछत–पोंछते हुए। धौरी—धवली, श्वेत। साध–अभिलाषा। लौनी–माखन। बज्र–हीरा। केहरि-नख–बाघ के नाखून। आहि–है। लवनी–नवनीत। सबारे–सबेरे। आरि–हठ। कोहि–क्रोध। गुसैयाँ–मालिक, राजा। हम तें–हमसे बढ़कर। रूहठि–खेल में झूठ या कपट का व्यवहार।

लावत पाप–दोष लगाते हैं। घिरयो–धमकाया। चबाई–चुगलखोर। धूत–धूर्त्त। बूझी ग्वालिनि–गोपी ने पूछा। उकठि–सूखकर।

गोस्वामी तुलसीदास

[गोसाईंजी की शिष्य-परंपरा में उनका जन्म-संवत् १५५४ माना जाता है। शिवसिंह सेंगर ने १५८३ में इनका जन्म होना लिखा है। ये राजापुर के पं० आत्माराम के पुत्र थे। इनकी माता का नाम हुलसी था। वेणीमाधवदास के मूल गोसाईंचरित में लिखा है कि इनके पेट ही से दाँत उग आए थे और इनको जन्म देकर इनकी माता मर गई थी। एक दासी ने पाँच वर्ष तक इनका पालन किया। साँप काटने से वह भी मर गई। कुलक्षण समझकर इनके पिता ने इन्हें त्याग दिया तब नरहर्यानंदजी ने इनको पाला-पोसा और इनके सब संस्कार किए। इन्होंने इनका नाम तुलसीदास रखा। इनका पहला नाम रामबोला था। शेष-सनातनजी के पास काशी में इन्होंने विद्या प्राप्त की। आगे चलकर इनका विवाह भी हुआ। एक बार ये अत्यंत प्रेम के कारण अपनी स्त्री के पीछे पीछे अपनी ससुराल को दौड़े गए। इस पर इनकी स्त्री ने इन्हें फटकारा जिससे इन्हें वैराग्य हो गया। इन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया और रामचरितमानस तथा गीतावली सरीखे कई अनुपम ग्रंथ लिखे। इनकी मृत्यु काशी में स० १६८० में हुई।]

(१) भरत-मिलन

पृ० १८. चतुरंग सेन—चतुरंगिणी सेना, जिसमें पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथी ये चार अंग होते हैं। खभारू—क्षोभ, खलबली।

पृ० १६. गजाली-हाथियों की पंक्ति। ससि-चंद्रमा ने तीनों लोकों के जीतकर राजसूय यज्ञ किया। अपने वैभव के मद में उसने अपने गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा के हरकर उसके साथ अनीति की जिससे बुध उत्पन्न हुआ। इस पर देवताओं ने चंद्रमा पर चढ़ाई की। राक्षस चंद्रमा की तरफ से लड़े। युद्ध का जब अंत न दिखाई दिया तो ब्रह्मा ने बीच-बिचाव किया। चंद्रमा के तारा लौटा देनी पड़ी, पर बुध उसे मिल गया।

नहुष—ये बड़े न्याय-निपुण तथा ज्ञानी राजा थे। इंद्र पर एक बार ब्रह्महत्या का दोष लगा और वह छिप गया। नहुष के इंद्र-पद दिया गया। मद में आकर इन्होंने बुरी वासना से इंद्राणी के अपने पास बुला भेजा। बृहस्पति के कहने से इंद्राणी ने कहला भेजा कि यदि ब्राह्मणों से अपनी पालकी उठवाकर आओ तो तुम्हें स्वीकार करूँ। नहुष ने ऐसा ही किया। ब्राह्मण चल नहीं सकते थे। नहुष ने कहा 'सर्प सर्प' (जल्दी चलो, जल्दी चलो)। इस पर ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि जा, सर्प हो जा और नहुष सर्प हो गए। इंद्राणी के सतीत्व की रक्षा हुई।

वेन—यह राजा जन्म ही से बड़ी दुष्ट प्रकृति का था। इससे तंग आकर इसके पिता ने वानप्रस्थ ले लिया। जब इसे राजगद्दी मिली तो यह बड़ा उत्पात मचाने लगा। विष्णु के स्थान पर यह अपनी पूजा चलवाने लगा। ब्रह्मर्षियों ने इसे बहुत समझाया पर जब इसने एक न माना तो उन्होंने शाप देकर इसे भस्म कर दिया।

सहस्रबाहु—यह एक बार आखेट करते करते जमदग्नि के आश्रम पर जा पहुँचा। मुनि ने इसका राजोचित सम्मान किया जिसे देख-कर सहस्रबाहु दंग रह गया। जब सहस्रबाहु ने जाना कि मुनि के पास कामधेनु है जिससे उन्हें किसी बात की कमी नहीं तो उसने उनसे उसे माँगा। माँगने पर न मिली तो वह जमदग्नि को मारकर उसे ले चला। गऊ तो छूटकर इंद्रलोक को भाग गई परंतु परशुराम ने क्रुद्ध होकर सहस्रबाहु के सहित क्षत्रियों का २१ बार संहार करके इस अपमान का बदला लिया। उन्होंने यज्ञ करके अपने पिता को जीवित भी कर लिया।

सुरनाथ—एक बार इंद्र ने खड़े होकर बृहस्पति के आने पर उनका स्वागत नहीं किया। बृहस्पति के अप्रसन्न होकर चले जाने पर दैत्यों ने देवताओं पर आक्रमण किया और उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया। फिर देवता बृहस्पति ही की शरण गए तब उन्होंने उपाय बताया।

त्रिशंकु—अपने ऐश्वर्य्य के गर्व से त्रिशकु सशरीर स्वर्ग जाना चाहता था। विश्वामित्र ने तपोबल से उसे स्वर्ग की ओर भेजा। देवताओं ने उसे नीचे ढकेला। इससे वह बीच ही में टँगा रह गया।

पृ० १६-२०—रजायसु-राजादेश, आज्ञा। भाथा–तरकस। प्रवान–प्रमाण। अँचवत–पीते ही। मातहिँ–मत्त हो जाते हैं। तरनि–सूर्य। मकु–चाहे। आन–दुहाई।

पृ० २१—मंदाकिनी–गंगा। खोरी–बुराई, दोष। जल-अलि–मौंतुवा, एक काला कीड़ा जो पानी पर तैरता रहता है।

पृ० २२—ईति–अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, टिड्डीदल, तोते और पास के राजे—ये छः कृषि के विघ्न। खेरा–छोटा ग्राम, पुरवा। खगहा–गैंडा। चक=चकवा।

पृ० २३-२४—परमारथु–मोक्ष। तून–तरकस। गुदरत–अलग रहना। चग–पतंग, गुड्डी। निषंग—तरकस। गाँडर ताँती–वीरन या खस की जड़ की ताँत।

पृ० २५—सुरगन सभय धुकधुकी धरकी–डर से देवताओं की छाती धड़कने लगी कि न हो राम अयोध्या लौट जायँ और देवद्रोही रावण न मारा जाय।

(२) चातक-प्रेम

पृ० २५—लटो-विकृत हो गई है, जिससे आवाज अच्छी तरह नहीं निकलती। परुष पाहन–कठोर पत्थर, ओले। कुलिस–वज्र। एक–निराला।

पृ० २६—चरग–बाज की जाति का एक शिकारी पक्षी, चरख। ऊख–ऊष्म, गरम।

नरोत्तमदास

['शिवसिंहसरोज' में नरोत्तमदास का संवत् १६०२ में वर्तमान रहना कहा गया है। ये सीतापुर जिले के वाड़ी नामक कसबे के निवासी थे। मिश्रबंधुओं ने अनुमान किया है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका सुदामाचरित्र बहुत सरस तथा हृदयग्राही है। इस संग्रह में यह ग्रंथ संक्षेप से दिया गया है। इसके वर्णन बिल्कुल यथातथ्य

एवं स्वाभाविक और इसी कारण अत्यंत प्रभावशाली हैं। भाषा भी बहुत शुद्ध है।]

सुदामा-चरित्र

पृ० २७—निरद्वंद-निश्चिंत। सिद्धि करौ-जाओ। मंगलाकांक्षा से प्रस्थान करने को सिद्धि करना कहा जाता है। पन-अवस्था। कोदो-सवाँ-कोद्रव और श्यामाक, कदन्न।

पृ० २८—पेलि-ठेलकर, जबर्दस्ती। कनावड़ो-अहसानमंद। जक-बर्राहट। छड़िया-छड़ी लिए हुए द्वारपाल। बाली-अनाज की बाल। बूट-चने का पौधा।

पृ० २९—आहि-है। लटी-जीर्ण। उपानह-जूता। सामा-सामान, सामग्री। दुख सानै-दुखी होवे।

पृ० ३०—अछोट-बड़ी। तंदुल-चावल। दुइ लोक बिहारी-दो लोकों की संपत्तिवाला या स्वामी। धन्य, कहा कहिए...पावन कीनो-सुदामा को बिदा करते समय कृष्ण का कथन। पठवनि-बिदा करने का ढंग। कर ओड़त फिरे—(माँगने के लिये) हाथ फैलाते फिरे। झखत-दु:खित होते हुए। गयंद-गजेंद्र, श्रेष्ठ हाथी। गौतम रिषि को नाउँ-किसी अनजान नगर में जाने से पहले आपत्तियों से रक्षा के निमित्त गौतम ऋषि का स्मरण किया जाता है। सुदामा ने अपने नगर को, जिसमें इसी बीच विश्वकर्मा ने कृष्ण के आज्ञानुसार फेरफार कर दिया था, पहचाना नहीं।

पृ० ३१—संभ्रम-भ्रम, आश्चर्य। मझायो-छान डाला। पूछि भे-पूछ चुके। टोटनी-टोंटी। बेँट-छुरी का वह भाग जो हाथ में पकड़ा

जाता है। सौ टूक-सौ टुकड़ों का। वहौ-वह भी। पावौ-खाट के पैर। पाटी-खाट की लकड़ी। डोँड़न की माला-बड़ी इलायची के आकार के एक प्रकार के फलों की माला। ताक-ताक (आले) पर। चामीकर-सुवर्ण। हो न-नहीं था। लाहु-लाभ। वाहि-उस (स्त्री) को। उढाय लयो-बनवा लिया। लूम-पूँछ। बनवारी-जगल में घूमनेवाली।

अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'

[इनका जन्म सं० १६१० में हुआ था। ये अकबर के अभिभावक बैरम खानखाना के पुत्र थे। ये बड़े कवि और दानी थे। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपए का पुरस्कार दिया था। इन्होंने संस्कृत, हिंदी और फारसी सभी भाषाओं में अच्छी कविता की है। इनके दोहे और बरवै प्रसिद्ध हैं। बरवै छंद में इन्होंने नायिका-भेद भी लिखा है। इनकी गोसाईं तुलसीदासजी से बड़ी घनिष्ठता थी। ये अकबरी दरबार के रत्न थे। ये अकबर के सेनापति और मत्री भी थे। पीछे ये जहाँगीर के विरुद्ध हो गए थे जिससे कैद कर लिए गए और इनकी जागीर छीन ली गई। पर फिर इन्हें क्षमा मिल गई। सं० १६८६ में ये विद्रोही महाबतखाँ के विरुद्ध भेजे गए। परंतु मार्ग ही में, दिल्ली में, इनका स्वर्गवास हो गया।]

(१) दोहा

दो० १·१२— अच्युत-चरन-तरंगिनी-अच्युत विष्णु का एक नाम है। पुराणों में गंगा का विष्णु के चरणों से निकलना कहा गया है।

शिव के सिर पर भी वे विराजती हैं। हरि (विष्णु) न बनायो—क्योंकि उस दशा में गंगा को मेरे चरणों पर रहना पड़ेगा। बनायो—बनाइयो। इंदव-भाल—(चंद्रमा है जिसके ललाट पर) शिव बनाना जिससे तुम मेरे सिर पर ही रहो। मुनि-पत्नी—अहल्या। पत्र-दल, पँखड़ी। पितहिँ—अर्थात् जल को। सकुचि...सीत—सिकुड़कर चद्रमा के शीत को जल में उसकी वृद्धि के लिये पड़ने देता है। पिता-पुत्र में इतनी प्रीति है कि परकीय वैरभाव का कोई फल नहीं होने पाता। अनखाए—बिना खाए। अनखाय—क्रुद्ध हो। सेस—(१) शेषनाग, (२) बचा खुचा।

(२) बरवै

६–६—घुरवा—घोर अर्थात् गर्जन। ऊधो—उद्धव, कृष्ण के सखा जिन्हें कृष्ण ने विरह-व्याकुल गोपियों को समझाने के लिये भेजा था। यह संदेसवा—कृष्ण को भुलाकर निर्गुण परमात्मा का ध्यान करना और योग-साधना करना। अकह कहान—अकथ कहानी। बसु आस—आठों दिशाएँ।

बिहारीलाल

[बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ-गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग हुआ माना जाता है। बचपन में ये बुँदेल-खंड में रहे और जवानी में अपनी ससुराल, मथुरा में। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराजा जयसिंह) के आश्रय में रहते थे। इन्हीं के कहने पर इन्होंने वे सात सौ के लगभग दोहे रचे जो इनकी सतसई में संगृहीत हैं। बिहारी-सतसई इतना गंभीर ग्रंथ बना कि

इस पर दर्जनों टीकाएँ हो चुकी हैं और नई नई होती जा रही हैं। इनका मृत्यु-काल सं० १७२० के आस-पास माना जाता है।]

दोहे

पृ० ३५. स्यामु—(१) कृष्ण, (२) काला रंग, (३) पाप। हरित-दुति—(१) फीका, कम सुंदर, (२) हरा रंग, (३) जिसका प्रभाव हर लिया गया हो। अनाकनी—आनाकानी। दई दई—दैव दैव। दई दई—दैव ने जो दी है। जग-बाइ—दुनिया की हवा। अएरि—अंगीकार करके।

पृ० ३६. कनकु—(१) धतूरा, (२) सोना। अपत—अपत्र, बिना पत्तों की। बीचु—फर्क।

पृ० ३७. अरक—आक का पेड़। अरक—सूर्य्य। उदोतु—उद्योत, प्रकाश। भज्यौ—भागा। भज्यौ—भजन किया। बरिया—अवसर। करिया—कर्णधार। औथरौ—छिछला। बाइ—बावली। श्रुति—वेद, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सुनकर के याद होते आ रहे हैं। सुम्रत्यौ—स्मृति। निसक ही—दुर्बल ही को। छायाग्राहिनी—राक्षसी जो जल में के प्रतिबिंब के सहारे बिंब (असल) वस्तु को खींचकर चट कर जाय। इसी प्रकार की एक राक्षसी लंका के पास समुद्र में रहती थी जो आकाश-मार्ग से लंका जानेवालों को भी खा जाया करती थी। हनुमान् पर जब इसने अपना बल दिखाना चाहा तो उन्होंने इसे मार डाला।

पृ० ३८. ओड़—मिट्टी खोदनेवाली एक जाति जो गधे पर मिट्टी ढोती है। बै-नै—वय-नदी, नई उमर रूपी नदी। कहलाने—कातर, व्याकुल। चिनगी चुगै अँगार की—कहते हैं कि चकोर जलते हुए अँगारे खा जाता है।

पृ० ३६. बृषभानुजा–(१) बृषभानु की पुत्री, राधा। (२) बृषभ या बैल की अनुजा। हलधर–(१) बलदेव, (२) हल चलानेवाला बैल।

पद्माकर भट्ट

[पद्माकर मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। ये तैलग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८१० में, बाँदे में, हुआ था। पद्माकर के पिता भी कवि थे। पुत्र में यह गुण कई गुना होकर आया। ये कई राजा-महाराजाओं के यहाँ से सम्मानित हुए थे। अधिकतर ये जयपुर दरबार में रहे। महाराजा प्रतापसिंह और उनके पीछे उनके पुत्र जगत्सिंह इन्हें बहुत मानते थे। जगत्सिंह के नाम पर इन्होंने जगद्विनोद बनाया। सं० १८५६ में ये महाराजा रघुनाथ राव के यहाँ गए। उनके यहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ था। कुछ दिनों ये उदयपुर, ग्वालियर और बूँदी में भी रहे थे। बृद्धावस्था में ये, बहुत रुग्ण होने के कारण, कानपुर में गंगातट पर बस गए। वहीं इन्होंने गंगालहरी बनाई। ८० वर्ष की अवस्था में इनका शरीर-पात हुआ।]

गंगा-स्तव

पृ० ४०—कूरम—कूर्मावतार। कोल—वाराहावतार। पृथ्वी का कूर्म (कछुए) की पीठ पर, सुअर के दाँत पर और शेष-नाग के सिर पर रहना पुराणों में कहा गया है। रजत-पहार—कैलास। पंचभूत—पंचभूतों का बना शरीर, बार बार शरीर धारण। भूतन को पति—महादेव। तन ग्यारह—महादेव के ग्यारह रूप माने गए हैं। भव शूल—संसार का दुःख। त्रिशूल देत—महादेव बनाते।

पृ० ४१-४२—गरद कीन्हें—धूल में मिला दिए। बुटना—भागना। सँघाती—साथी। घुटना—दम घुटकर मर जाना। दीह—दीर्घ, बड़े। लुटना—लूटा जाना, नष्ट हो जाना।

हरिश्चंद्र

[बाबू हरिश्चंद्र का जन्म सं० १९०७ के भाद्रपद की शुक्ला सप्तमी को, काशी में, हुआ था। ये प्रसिद्ध सेठ अमीचंद के वंशज थे। इनके पिता का नाम गोपालचंद था जो अच्छे कवि और चालीस ग्रंथों के रचयिता थे। पिता के गुण पुत्र में आए। छः वर्ष की अवस्था में ही ये कविता करने लगे थे। इन्होंने पेनीरीडिंग रूम, तदीय समाज आदि कई संस्थाओं की स्थापना की थी और कविवचनसुधा, हरिश्चंद्र-चंद्रिका और हरिश्चंद्र-मेगजीन नामक पत्र-पत्रिकाएँ निकाली थीं। सं० १९२७ में ये ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनाए गए। इन्होंने बीसियों नाटक लिखे और अनुवाद किए। इनकी कविता और उपाख्यान तथा निबंधों की कुछ गिनती नहीं। ये बड़े उदार व्यक्ति थे। व्यय में संयम न रखने के कारण इनको अंत में धन-संकट उठाना पड़ा। इनका हिंदी भाषा का प्रेम अगाध था। राजा शिवप्रसाद फारसी मिली भाषा के पक्षपाती थे, इससे इन्होंने उनका विरोध किया। राजा शिवप्रसाद को सितारेहिंद खिताब मिलने पर हिंदी के समाचारपत्रों ने एकमत होकर इन्हें भारतेंदु की उपाधि दी जो सबको पसंद हुई।]

नारद की वीणा

पृ० ४३-४४—पिंग—कुछ पीलापन लिए हुए, मटमैले रंग की। बनी—शोभित है। आरोहन अवरोहन—संगीत में स्वरों का चढ़ाव-उतार।

अघट–जो घटे नहीं। खगोल–गोलाकार आकाश। कर-अमलक–हथेली पर का आँवला जो उलट-पुलट करके संपूर्ण देखा जा सकता है; भली भाँति जान लेने योग्य वस्तु। ब्रह्म–परम तत्त्व, परमात्मा। जीव–प्राणियों की आत्मा। निरगुन–निर्गुण; परमात्मा का शुद्ध निरुपाधि निराकार रूप जिस पर गुणों का आरोप नहीं हो सकता। सगुन–सगुण—परमात्मा का त्रिगुणात्मक व्यक्त साकार रूप। द्वैत–वह दार्शनिक मत जिसमें परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति की अलग अलग सत्ता मानी जाती है। अद्वैत–जिसमें इन तीनों की एकता और अभिन्नता मानी जाती है, जो भेद दिखाई देता है वह मायाकृत और केवल भ्रम माना जाता है। नित्य–अविनाशी। अनित्य–नाशवान्।

श्रीधर पाठक

[पं० श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। संवत् १९१६ में इनका जन्म आगरा जिले के जोंधरी गाँव में हुआ था। पहले इन्होंने घर पर संस्कृत पढ़ी। इंट्रेंस तक इन्होंने स्कूली शिक्षा प्राप्त की। सं० १९३७ में इन्होंने सरकारी नौकरी कर ली। वहाँ इन्होंने बड़ी तत्परता दिखाई। अंत में ये युक्त-प्रांतीय सरकार के दफ्तर के सुपरिंटेंडेंट पद तक पहुँचे। सरकार में इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। सरकारी नौकरी से इन्होंने पेंशन ले ली थी। इन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में कविता की है। इनकी ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक सरस और मधुर हैं। भाषा इनकी शुद्ध और सुमधुर है। परतु खड़ी बोली इतनी शुद्ध नहीं है। ये प्राकृतिक सौंदर्य्य के बड़े उपासक थे। 'देहरादून', 'शिमला' तथा 'काश्मीर-सुषमा' में इनका प्रकृति-प्रेम खूब झलकता है।

इन्होंने भारत की प्रशंसा में भी कविता की है जिसका संग्रह भारत-गीत नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके अनुवाद इनकी स्वतंत्र रचनाओं से भी सुंदर हैं। इनके ऊजड़ ग्राम, श्रांत पथिक और एकांत-वासी योगी गोल्डस्मिथ के ग्रंथों के अनुवाद हैं। कालिदास के ऋतुसंहार का भी इन्होंने अनुवाद किया है जो बहुत मधुर है। संवत् १९८५ में इनकी मृत्यु हुई।]

काश्मीर-सुषमा

पृ० ४५—छनिक—क्षण भर ठहरनेवाली। मुकुर—दर्पण। उसति—उच्छ्वसित होती है। गह्वर—गुफा।

पृ० ४६—स्रैननि-श्रेणियों में, पंक्तियों में। वितस्ता—झेलम नदी का एक नाम। वैष्णव "श्री"—वैष्णव तीन रेखाओं का ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगाते हैं, बीच की रेखा को श्री कहते हैं। अद्रि—पर्वत। नैसर्ग निधि—प्राकृतिक खजाना। निखिल—सब।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अगस्त्य-गोत्री, शुक्ल यजुर्वेदी सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनका जन्म सं० १९२२ में आजमगढ़ जिले के कसबा निजामाबाद में हुआ। इन्होंने सं० १९३६ में वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा पास की और सं० १९४४ में नार्मल। घर पर इन्हें संस्कृत और फारसी की भी शिक्षा मिली थी। पहले ये अपने ही कसबे के तहसीली स्कूल में अध्यापक हुए। पीछे इन्होंने कानूनगोई पास की और कानूनगो बनाए गए। पेंशन लेते समय ये सदर कानूनगो थे। आजकल काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी के अवैतनिक अध्यापक

हैं। कविता के क्षेत्र में उपाध्यायजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपका 'प्रियप्रवास' एक अत्यंत सुंदर महाकाव्य है जिसमें प्रेम की मधुर व्यंजना के साथ साथ समाज-सेवा का ऊँचा आदर्श दिखाया गया है। प्रियप्रवास में मधुर और कोमल संस्कृत पदावली का उपयोग किया गया है। उपाध्यायजी ने बोलचाल की भाषा में भी बड़ी चुटीली उक्तियाँ कही हैं। इन पिछली रचनाओं में इन्होंने मुहावरों और कहावतों का बड़ा फबता प्रयोग किया है। इन रचनाओं का 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' इन तीन ग्रंथों में संग्रह किया गया है। इसी तरह उपाध्यायजी के गद्य-लेखों में भी दो शैलियाँ मिलती हैं।]

(१) वर्षा-वर्णन

पृ० ४८-४९—अंशु–किरण। वियत–आकाश। व्यूह–घेरा। रसा–पृथ्वी। उमड़ते पड़ते–उमड़े पड़ते थे होना चाहिए। कर सु-प्लावित–डुबाकर। हिल–हिलकर, इसका कर्त्ता 'पादप-पुंज के दल' है।

पृ० ५० —अनुराग–अनुराग का रंग लाल माना गया है। प्रतिपत्ति–कृपा, प्रसाद। राजि–पंक्ति। जीवन–पानी का नाम भी है।

पृ० ५१—भुज-पोत–बाहु-रूपी जहाज। प्रभंजन–आँधी। असितता–कालापन।

(२) भेद की बातें

पृ० ५१-५३—किसे–किसी को। ए–चिड़ियाँ। वे–बेलें। उलही–प्रसन्न, उल्लसित। गुन-भरे के–परमात्मा के। छिले–कुरेदकर दूर

करे। सतधंधी-अनेक धंधोंवाली। साँस की साँसत—साँस रोककर प्राणायाम करने का कष्ट। नाक दबाना—प्राणायाम करना।

पृ० ५४—आँवला हथेली का—जो उलट-पुलटकर अच्छी तरह देखा जा सकता है। संस्कृत मुहावरा, हस्तामलक।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

[बाबू जगन्नाथदास का जन्म सं० १९२३ में, काशी में, हुआ। इनके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास अग्रवाल थे। इनके पूर्वज मुगल बादशाहों के यहाँ प्रतिष्ठित पदों पर रहे थे। अतएव इनके घर में फारसी का बड़ा मान था। जगन्नाथदास ने भी बी० ए० में फारसी ली थी और फारसी ही लेकर एम० ए० करना चाहते थे पर किसी कारण से परीक्षा न दे सके। पहले-पहल ये फारसी में कविता किया करते थे। परंतु उस समय के हिंदी-प्रेम की लहर से, नागरीप्रचारिणी सभा जिसका प्रतीक है, ये नहीं बच सके और इन्होंने भी हिंदी में कविता रचना आरंभ कर दिया। इनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यंत ओजपूर्ण होती थी। पढ़ने पर यही भान होता है कि पद्माकर और देव की कविता पढ़ रहे हैं। ये ब्रजभाषा के उच्च कोटि के कवि थे। इनके 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' काव्य बहुत प्रसिद्ध हैं। गंगावतरण पर इन्हें हिंदुस्तानी एकेडेमी से ५००) का पुरस्कार मिला था। ये अयोध्या-नरेश महाराज सर प्रतापनारायण सिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उनकी मृत्यु पर उनकी महारानी साहिबा ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया था। ये जीवन भर उसी पद पर रहे। जून सन् १९३२ में, हरद्वार में, इनका देहांत हो गया।]

भगीरथ की वर-प्राप्ति

पृ० ५५—गोकरन-धाम—एक शैव क्षेत्र जो मालावार में है। रावण आदि ने यहाँ तप किया था।

पृ० ५६—रह्यौ भूप कौ रूप...लेखा सौ—तप से राजा इतने क्षीण हो गए कि संदेह होने लगा कि वे हैं या नहीं हैं। भावना की तरह गुप्त से हो गए। रेखागणित में मानी हुई रेखा के समान वे थे भी और नहीं भी थे। पुरहूत—इंद्र। अखंडल—इंद्र। कहलाने—व्याकुल हुए। चारमुख—ब्रह्मा।

पृ० ५८—तारन-बिरद-उतंग—तारने की कीर्त्ति से उत्कृष्ट। जुड़ैहैं—ठंढा करेंगे। ब्रह्मद्रव—गंगा के रूप में द्रवीभूत परमात्मा।

पृ० ५९—आसुतोष—बहुत जल्दी संतुष्ट होनेवाले। छोहि—स्नेह करके। खर्ब—कम, नष्ट। दुर्दर—जिसको दलन करना कठिन हो। पारावार—समुद्र।

पृ० ६०—बच्छस्थल—वक्षःस्थल, छाती। प्रलंब—लंबी।

पृ० ६१—दुरद-दवन—सिंह। तांडव—शिवजी का उग्र नृत्य। प्रनतारति-हारी—प्रणत (भक्त) की आर्ति (दुःख) को हरनेवाले।

पृ० ६२—दंद-उम्मस—विरोधी विचारों का ताप।

रामचंद्र शुक्ल

[पंडित रामचंद्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ में बस्ती जिले के अगोना गाँव में हुआ। इन्होंने एफ० ए० तक कालेज में शिक्षा पाई। फिर मिर्जापुर के मिशन-स्कूल में मास्टर हो गए। सन् १९०८ में काशी-नागरीप्रचारिणी सभा में हिंदी-शब्दसागर का काम करने के लिये बुलाए गए। आठ-नौ वर्षों तक नागरीप्रचारिणी पत्रिका का संपादन

भी इन्होंने किया। आजकल ये काशी हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। उच्च कोटि के कवि, समालोचक और निबंधलेखक हैं। इनके निबंध गूढ़ विषयों पर होते हैं। वे या तो साहित्यिक आलोचना पर हैं या मनोविकारों पर। तुलसीदास, सूरदास और जायसी की बड़ी ही मार्मिक और विस्तृत आलोचनाएँ इन्होंने लिखी हैं, जिन्होंने हिंदी के समालोचना-क्षेत्र में नवीन युग उपस्थित कर दिया है। इनकी कविताएँ भावपूर्ण होती हैं। करुण-रस लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने बुद्धचरित नामक महाकाव्य लिखा है।]

भगवान् बुद्ध और हंस

पृ० ६३-६६—वयस्–अवस्था। देवदत्त–बुद्ध का चचेरा भाई। बैठ्यो–घुस गया। सहराय–सुहलाकर। पाटल–एक पौधा। विधि कै–विद्ध होकर। तीर–पास। देवगण इ०–बौद्धों का एक विश्वास।

जयशंकर 'प्रसाद'

[बाबू जयशंकर 'प्रसाद' कान्यकुब्ज वैश्य हैं। इनका जन्म सं० १९४६ में, काशी में, हुआ। इन्होंने घर पर ही संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी की शिक्षा पाई है। इनकी अपनी विशिष्ट शैली है जो इनकी सब प्रकार की रचनाओं में समान रूप से विद्यमान है। भाषा में प्राचीन शब्दों का प्रयोग और ग्रंथों में प्राचीन दृश्यों का चित्रण इनकी विशेषता है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने साहित्य का कोई अङ्ग अछूता नहीं छोड़ा। इन्होंने अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ

आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। कविताएँ भी इनकी बहुत हैं। अब तक इनकी कविताओं के छोटे मोटे पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कहानियाँ भी बड़ी रसीली होती हैं। समाज के विकृत स्वरूप का चित्रण ये बड़ी ख़ूबी के साथ करते हैं, पर उसमें कुरुचि नहीं आने पाती। हाल में 'कंकाल' नाम का इनका एक उपन्यास निकला है जिसमें इनकी कहानियों के सब गुण विद्यमान हैं।]

(१) भारत-महिमा

पृ० ६८—हिमालय के आँगन—आर्यावर्त; यहीं गंगा तथा सिंधु के जल से प्रक्षालित भूमि में भारतीय सभ्यता का उदय हुआ था। यहीं से सभ्यता दूसरे देशों में गई।

सप्तस्वर—संगीत के सात स्वर सा-रे-ग-म-प-ध नि। सप्तसिंधु—वह प्रदेश जो आर्यों का आदिम निवास-स्थान था। साम-संगीत—सामवेद का गान। यह वैदिक काल था।

बचाकर बीज रूप से .....बड़े अभीत—प्रलय के समय केवल मनु अपनी नौका पर बच रहे थे। पुन: उन्हीं से मानव-सृष्टि हुई। वरुण-पथ—सागर।

दधीचि—इन्होंने वृत्रासुर को मारने के निमित्त वज्र बनाने के लिये इंद्र को अपनी हड्डी दी थी।

सिंधु सा विस्तृत...वह राह—वनवासी रामचंद्र ने समुद्र के समान गंभीर और विस्तीर्ण उत्साह से बंदरों के द्वारा समुद्र के ऊपर लंका जाने के लिये पुल बनवाया था। रामेश्वरम् और सिंहल के

बीच में कुछ टापू दिखाई देते हैं, वे इसी के भग्नावशेष बताए जाते हैं। शेषांश, कहते हैं, जल में डूब गया है।

धर्म्म का ले...कर दी बंद—विक्रम से पहले पाँचवीं शताब्दी में गौतम बुद्ध ने अपना अलग धर्म चलाया जो बौद्ध-धर्म कहाया। इसकी नींव करुणा और प्रेम पर रखी गई। बुद्ध ने हिंसा का घोर विरोध किया था।

विजय केवल...घर घर घूम—सम्राट् अशोक की ओर संकेत है जिसने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था और मनुष्य एवं पशु सब पर दया दिखलाई थी।

यवन को दिया...को भी सृष्टि—अशोक ने अंतियोक नामक यवन-राज तथा उसके सामंतों के राज्यों तक में मनुष्यों तथा पशुओं के चिकित्सालय खुलवाकर अपनी दया का परिचय दिया था। इसका उल्लेख उसके द्वितीय शिलाभिलेख में है। उसने चीन में उपदेशक भेजकर बौद्ध-धर्म का प्रसार किया था। स्वर्ण-भूमि—बर्मा। रत्न—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र्य।

पृ० ६६—कहीं से हम आए थे नहीं—इतिहासज्ञों का विश्वास है कि भारत में आर्य मध्य-एशिया से आए थे। कुछ लोग उन्हें दक्षिणी द्वीपसमूहों से आया हुआ बताते हैं। और कुछ कहीं से, कुछ कहीं से। पर कवि का मत है कि भारत ही से लोग और जगह गए हैं। विपन्न—विपत्ति में पड़े हुए।

(२) चित्रकूट

पृ० ७०—चंद्रातप—चँदोआ। सोम—चंद्रमा।

मैथिलीशरण गुप्त

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म बाबू रामचरण गुप्त के यहाँ सं० १६४३ में, चिरगाँव (झाँसी) में, हुआ। ये शुद्ध खड़ी बोली में कविता करते हैं। व्याकरण के नियमों का कहीं भी उल्लंघन नहीं करते। यह गुण पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का शिष्यत्व प्रदर्शित करता है। इनकी कविताओं में उत्कट देशप्रेम भरा रहता है जो इस युग की विशेषता है। इसी लिये ये इस युग के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं। बहुधा नवयुवक कवि गुप्तजी को ही आदर्श मानकर चलते हैं। 'भारत-भारती' इनकी सर्व-प्रिय रचना हुई है; पर उनका कवित्व उत्तरोत्तर प्रस्फुटित हो रहा है। झंकार, पंचवटी आदि कई ग्रंथ इनके बड़े सुंदर हुए हैं। इन्होंने तिलोत्तमा और चंद्रहास दो नाटक भी लिखे हैं। विरहिणी व्रजांगना, मेघनाद-वध, पलासी का युद्ध इन बँगला ग्रंथों का अनुवाद भी किया है। साकेत महाकाव्य भी अपूर्व है। इन्होंने अपने गाँव में साहित्य प्रेस खोला है। इनका सारा समय साहित्य-सेवा में व्यतीत होता है—यही इनका व्यवसाय है।]

पर्णकुटी के द्वार पर लक्ष्मण

पृ० ७४—मोती—तारागण। सोना—शयन और सुवर्ण।

पृ० ७७—लहकते हैं—लेने लपकते हैं।

पृ० ७८—वैतालिक—भोर को जगानेवाले। केकी—मोर। तत्त्व-ज्ञान—परमात्मा के स्वरूप का परिचय।

पृ० ७६—आयोजनमय-बड़ी तैयारी का।

पृ० ८०—मनःप्रसाद—मन की प्रसन्नता। पुण्य-गृहता—पवित्र गार्हस्थ्य।

पृ० ८१—सब...क्षेम—प्रेम की खैरियत संयोग में ही है, वियोग में नहीं।

रामनरेश त्रिपाठी

[पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म संवत् १९४६ में जौनपुर जिले के कोइरीपुर गाँव में हुआ। ये बहुत उत्साही सज्जन हैं। इन्होंने भारतवर्ष के दूर दूर प्रदेशों की यात्रा की है। इन्होंने प्राचीन और आधुनिक हिंदी-कवियों की कविता का एक अच्छा संग्रह दो भागों में तैयार किया जिसका नाम कविता-कौमुदी है। इस संग्रह में कवियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्राम-गीतों का भी इन्होंने अच्छा संग्रह किया है जो कविता-कौमुदी के पाँचवें व छठे भागों के रूप में प्रकाशित हुआ है। इनके मुख्य कविता-ग्रंथ मिलन, पथिक और स्वप्न नाम के खंड-काव्य हैं। इनकी कविता में राष्ट्रीय भाव भरे रहते हैं और वह सरल, सुबोध तथा जोशीली होती है। उसमें प्रकृति-वर्णन की बहार अच्छी रहती है। आजकल ये प्रयाग में रहते हैं और पुस्तक-प्रकाशन का कार्य करते हैं। वानर नामक एक बालकोपयोगी पत्र भी अपने संपादकत्व में निकालते हैं।]

पथिक को साधु का उपदेश

पृ० ८३—जीवन धारण कर—पानी लेकर।

पृ० ८४—जुड़ाये—शीतल हुए, सुखी हुए।

पृ० ८५—अवहेला-अवज्ञा ।

पृ० ८७—केतु—धूमकेतु ।

गोपालशरण सिंह

[ठाकुर गोपालशरण सिंह का जन्म संवत् १९४८ में हुआ । ये रीवाँ-राज्यांतर्गत नई गढ़ी के इलाकेदार हैं और बड़ी सहृदयता के साथ अपने इलाके का प्रबंध करते हैं । स्कूली शिक्षा इन्होंने मैट्रिक तक ही पाई है । इनकी विद्या अधिकतर स्वाध्याय का ही फल है । इन्हें संस्कृत का भी पर्याप्त ज्ञान है । बाल्यकाल से ही इन्हें कविता से प्रेम है । २० वर्ष की अवस्था से इन्होंने स्वयं कविता लिखना आरंभ किया । 'सरस्वती' में इनकी कविताएँ अधिकतर छपा करती हैं । इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह अभी हाल में 'माधवी' नाम से प्रकाशित हुआ है । इनकी भाषा साफ-सुथरी होती है और कविता में प्रवाह अच्छा रहता है । खड़ी बोली में घनाक्षरी लिखने में इन्होंने अच्छी सफलता पाई है ।]

सियारामशरण गुप्त

[बाबू सियारामशरण मैथिलीशरणजी के छोटे भाई हैं । इनका जन्म सं० १९५२ में हुआ । मौर्यविजय, अनाथ, विवाद, आर्द्रा आदि इनके कई छोटे छोटे काव्य अब तक प्रकाशित हो चुके हैं । आधुनिक समय की पुकार को इनकी वाणी ने जनता के मुग्ध हृदय तक पहुँचाने में सरस और सफल प्रयत्न किया है ।]

एक फूल की चाह

पृ० ६२, मृतवत्सा—जिन माताओं के बच्चे मर गए हों। दुर्दांत—जिसका दमन न किया जा सके।

पृ० ६४—स्वर्ण-घन—डूबते हुए सूर्य की सुनहली किरणों से रँगे हुए बादल।

पृ० ६६—अपूत—अपवित्र।

पृ० ६६—त्रुटि—दोष, कमी। उपकरण—सामग्री।

सुमित्रानंदन पंत

[पं० सुमित्रानंदन पंत का जन्म सं० १६५८ में अल्मोड़े में हुआ। इनके पिता पं० गंगादत्त बड़े धर्मनिष्ठ थे। पिता में जिस सहृदय-भावना ने धर्मनिष्ठा का चोला पहना था, पुत्र में वह कवित्व होकर आई। सुमित्रानंदनजी ने एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की; पर अप्राकृतिक शिक्षा का बंधन उन्हें रुचा नहीं। कॉलेज छोड़कर प्रकृति देवी की अप्रतिबंध गोद को उन्होंने अपना शिक्षालय बनाया। प्रकृति देवी के ही इष्ट से उन्हें कवित्व-सिद्धि हुई। उनके 'उच्छ्वास' ने एक प्रतिभा-नक्षत्र की उदयदिशा का संकेत दिया। उनके 'पल्लव', 'वीणा' और 'ग्रंथि' में उसकी प्रखरता कुछ लोगों को असह्य हुई। आशा है 'मधु-वन' की छाया ऐसे लोगों को भी रुचेगी। सुमित्रानंदनजी ने कविता-क्षेत्र में एक नया पौधा रोपा है। उसकी काट-छाँट उन्होंने अपने ढंग की की है। उनकी कविता में भाषा-सौष्ठव है, प्रवाह है और है उत्पतन-शीलता। उन्होंने अँगरेजी साहित्य का भी परिशीलन किया है, इससे उनमें अँगरेजी भावों का आना स्वाभाविक है। परंतु अब वे धीरे

धीरे हिंदी के अनुरूप होकर आ रहे हैं। उनका गद्य भी वैसा ही अलंकृत होता है जैसा उनका पद्य।]

बादल

पृ० १०६—जगत्प्राण—वायु जो जगत् का प्राण है। मेघदूत—महाकवि कालिदास का एक काव्य जिसमें एक विरही यक्ष अपनी प्रियतमा के पास मेघ को दूत बनाकर संदेश भेजता है। शिखी—मयूर। नृत्य—नृत्य के कारण। स्वाति—स्वाती नक्षत्र की वर्षा की बूँद यदि सीप में पड़ जाय तो मोती बन जाता है। कृषक इ०—कृषक-बाला को मेघ देखकर अत्यंत आनंद होता है। दिनकर—सूर्य्य। चल—चंचल। विपुल इ०—त्रिभुवन की विपुल कल्पना के समान हम।

पृ० १०७—अनंत—अनंत आकाश। मत्त मतंगज—मत्त हाथी बने हुए। सजग शशक—चौकन्ने खरगोश बने हुए। सीप के—सीप जैसे उज्ज्वल। समुद—सानद। कर—किरणें। उपल—ओले। रजत-कर—चाँदी जैसे उज्ज्वल हाथ। दमयंती...स्वर्ण-हंस—एक स्वर्णरंगी हंस ने दमयंती को नल का संदेश सुनाया था।

पृ० १०८—तमाल-तम इ०—अंधकार-रूपी तमाल-वृक्ष के पत्तों के समान। बाल-हंस—प्रातःकालीन सूर्य। स्वर्णपंख—प्रातःकालीन सूर्य्य की ललाई से रंजित अतः सोने के से रंगवाले होकर। अछोर—अंत-रहित। निशि-भोर—रात और प्रभात में। घोप भरे-शब्द करते हुए। विप्लव-भय-राज्यक्रांति से उत्पन्न भय जो शीघ्र चारों ओर प्रसरित हो जाता है।

पृ० १०६—काल-चक्र–जो सदा नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है। जलधर—मेघ रूप में। जल-धार–जल की धारा के रूप में (बरसने लगते हैं)। हवा में महल बनाकर—(१) वायुमंडल में बादल अनेक महलों की सी आकृतियाँ बना लेते हैं, (२) बड़े बड़े मनोरथ बाँधते हुए। विभव-भूति ही से–वैभव संपत्ति के तुल्य।

रस-चषक

(रसों का प्याला)

[काव्य के आस्वाद को रस कहते हैं। रसों के आधार भाव हैं। जो भाव मन में बहुत काल तक रहकर उसे तन्मय कर दें वे ही रस हो जाते हैं। ऐसे भाव स्थायी भाव कहलाते हैं। अब तक प्रेम, हास, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, आश्चर्य्य, शोक और शांति ये नौ स्थायी भाव माने गए हैं। जो भाव मन में केवल अल्प काल तक संचरण कर चले जाते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं। ये प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न स्थायी भावों को रस की उच्च भूमि तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। संचारी और स्थायी भावों के अतिरिक्त रस की निष्पत्ति के लिये विभाव और अनुभावों की आवश्यकता होती है। रसों को उदित और उद्दीप्त करनेवाली सामग्री विभाव कहलाती है। इसके तीन अंग हैं—आश्रय, आलंबन और परिस्थिति। विषयी आश्रय, विषय आलंबन और अनुकूल देश-काल परिस्थिति है। जैसे—सीता-विषयक प्रेम यदि राम में है तो राम उसके आश्रय, सीता आलंबन और जनकपुर का उपवन परिस्थिति समझना चाहिए। परिस्थिति को केवल उद्दीपन भी कहते हैं। अनुभाव आंतरिक मनोभाव का

बाहरी शारीरिक लक्षण है। मुखमंडल की मुद्रा आदि भीतर के भावों को प्रकट करते हैं। आश्रय के हृदय में आलंबन को विशेष परिस्थिति में देखकर जो विशेष प्रकार का बहुत देर तक उसे मग्न कर देनेवाला उसकी आकृति से लक्ष्यमाण भाव उदय होता है उसकी अनुभूति का पाठक या श्रोता के हृदय में, रस के रूप में, आविर्भाव होता है। प्रेम से शृंगार और वात्सल्य, हास से हास्य, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर, भय से भयानक, घृणा से वीभत्स, शोक से करुण, आश्चर्य्य से अद्भुत और शांति अथवा निर्वेद से शांतरस का उदय होता है।

इस प्याले में छंद १, २ शृंगाररस (दांपत्य प्रेम) के हैं, ३ वात्सल्यरस (संतान के प्रेम) का है, ४ हास्य का, ५ रौद्र का, ६-८ वीररस के (८ वें छंद में दानवीर का वर्णन है), ६ वीभत्स का, १० भयानक का, ११ अद्भुत का, १२ करुण का और अंतिम दो शांतरस के हैं।]

१—कवि मंडन—ये जैतपुर, बुँदेलखंड के निवासी थे। सं० १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में विद्यमान थे। इनके ग्रंथ हैं—रसरत्नावली, रसविलास, जनक-पचीसी, जानकीजू को ब्याह, नैनपचासा। कुछ बिखरे हुए फुटकर कवित्त भी हैं।

२—घनानंद—इनका जन्म १७४६ में हुआ और १७६६ की नादिरशाही में ये मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। इनकी कविता अत्यंत रसवती है। ये विरक्त होकर निंबार्कमतावलंबी वैष्णव हो गए थे। ग्रंथ—सुजानसागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड।

परजन्य—दूसरे के लिये जनमा (बादल)। जीवनदायक—(१) जल देनेवाले, (२) जीवन देनेवाले। विसासी—विश्वासघात करनेवाले।

६—लूम—पूँछ।

७—भूषण—इनका जन्म स० १६७० में और मृत्यु १७७२ में हुई। ये शिवाजी के राज-कवि थे। इन्होंने वीररस की बड़ी ओजस्विनी कविता लिखी है। इनके ग्रंथ शिवराज-भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक हैं।

जंभ—जंभासुर, जिसे इंद्र ने मारा था। बितुंड—हाथी।

८—हलके—झुंड। गज गज बकस—अनेक हाथियों के दाता।

९—ओझरी—पेट, आमाशय। झुड्डंग—झोंटेवाला। खोरि कै—नहाकर।

१२—आलम—ये जाति के ब्राह्मण थे पर मुसलमान हो गए थे। इनका समय १७१२ से १७६० तक माना जाता है। ये और इनकी स्त्री शेख दोनों अच्छे कवि थे। इनकी कविता बड़ी भावपूर्ण और हृदय-स्पर्शिणी है। इनकी पुस्तकें आलम-केलि और माधवानल-कामकंदला की कथा हैं।

१३—रसखान (सं० १६२०—१६८०)—ये जाति के तो पठान सरदार थे, पर थे वास्तव में उच्च कोटि के भगवद्भक्त वैष्णव। इनकी कविता प्रेमपूर्ण और रसीली है। इनके ग्रंथ प्रेम-वाटिका और सुजान-रसखान हैं।

कलधौत—सुवर्ण।
